

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182303

UNIVERSAL
LIBRARY

Call No. H 81.6

Accession No. G H 1917

Author V B M

Title अर्थ सिद्धान्त

This book should be returned on or before the date last marked below.

भगवतीचरण वर्मा

विशाल भारत बुक-डिपो

प्रकाशक
विशाल भारत बुक-डिपो
१६५११, हरिसन रोड
कलकत्ता

प्रथम संस्करण
मूल्य २)
जुलाई १९४०

Printed by R. C. Ray Chowdhury
at the Prabasi Press
120-2, Upper Circular Road
Calcutta.

एति .यति चिन्तकी कोमलता

असीम ममता और भावनाकी प्रति-मूर्ति, जीवनकी कोमलता
और चेतना जिसमें प्रतिविम्बित है—ऐसी परम करुणामयि
वहन नन्दिताको यह कविताओंका संग्रह सादर समर्पित !

मैं और मेरा युग

मैं यह मानता हूँ कि महान कलाकार युगका निर्माता हुआ करता है ; पर मैं यह माननेको तैयार नहीं कि मैं उस उचाईपर पहुँच चुका हूँ, जहाँसे मैं यह कहनेका दावा कर सकूँ कि मैं युग-निर्माता हूँ। मुझे अपने ऊपर विश्वास है ; पर मैं अभी बननेके क्रममें हूँ, यह मेरी साधनाका आदि-काल है।

आज जब मैं कलवाले निजत्वपर विचार करता हूँ, तब मुझे आश्चर्य होता है। मेरा संसार बदल गया है, मेरा दृष्टिकोण बदल गया है, मैं बदल गया हूँ। कलवाली कल्पनाएँ, कलवाले सपने—ये सब-के-सब न जाने कहाँ गायब हो गए ; वास्तविकताकी कुरूपतासे जकड़ा हुआ मैं आजके संघर्षमें अपनेपनको खो चुका हूँ ; यही नहीं, यह संघर्ष ही अपनापन बन चुका है।

राजनीतिसे मुझे अरुचि रही है ; राजनीतिकी एक महान आत्मा श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थीके प्रभावमें पला हुआ मैं राजनीतिसे दूर भागता रहा हूँ—और अपनी इस राजनीतिकी उपेक्षाको कभी-कभी स्वयं मैंने अपनी कायरता समझा। पर आज मैं जब अपने अतीतपर सिहावलोकन करता हूँ—आज जब मैं सोचता हूँ कि किस प्रकार अपना मस्तक ऊँचा करके मैं भूल और बेकारीसे लड़ा हूँ, किस प्रकार मैंने आत्म-सम्मान और 'अपनेपन'की रक्षा की है, तब मुझे कुछ शान्ति मिलती है। दुनियामें मैंने अभी तक दुनियावालोंकी नज़रमें खोया ही है, पाया कुछ नहीं ; पर अपनी नज़रमें मैंने एक महान अनुभव पाया है,

और मैं समझता हूँ कि मैं जीवनके सत्यके बहुत निकट पहुँच चुका हूँ ।

‘जीवनके सत्यके बहुत निकट पहुँच चुका हूँ’—इस बातपर लोग मेरी हँसी उड़ा सकते हैं, आजका हरएक विचारक यही कहता है । पर जीवनका सत्य पा जानेवाले ये विद्वान बुरी तरह एक-दूसरेको मारनेपर तुले हुए हैं । ये लोग पशुतामें जीवनके सत्यको पाना चाहते हैं मानवताका गला घोटकर अपनेपनको असीममें विकसित न करके ये लोग अपनेपनको नष्ट करके पशु बन जानेपर तुले हैं ।

मैं ‘अहम’का उपासक रहा हूँ ; मेरे ऊपर हिन्दीके आलोचकोंका आक्षेप रहा है कि मैं कहीं भी एक क्षणके लिए अहमके ऊपर नहीं उठ सका हूँ । मुझे हिन्दीके आलोचकोंसे शिकायत नहीं—‘अहम’ नामकी चीज़ गुलामोंमें मिल नहीं सकती—वे ‘अहम’ की महत्ताको जानते ही नहीं । और यहाँपर मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि दुनियामें आज तक कोई अहमके ऊपर न उठ सका है और न उठ सकता है । ‘अहम’ अस्तित्व है ; जो यह कहता है कि उसने अहमको मिटा दिया है—या जो कहता है कि अहमको मिटा देनेमें ही अपना कल्याण है, वह या तो दुनियाको धोखा देता है या अपनेको धोखा देता है । दुनियामें आज नम्र-रूपमें आगे आनेवाले समाजवादकी असफलताका मुख्य कारण यह है कि वह समाजके हितके लिए अहमको मिटा देनेवाले सिद्धान्तपर विश्वास करता है, जब कि उसका यह सिद्धान्त अस्तित्वके बुनियादी सिद्धान्तका विरोधी है ।

और फिर भी मैं कहता हूँ कि दुनियाकी इन उलझनोंका कारण 'अहम' है। ऐसी हालतमें मुझसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि फिर ये उलझनें दूर कैसे होंगी ? मैंने भी अपनेसे एक बार नहीं, अनेक बार यही प्रश्न पूछा है। और मैंने ही यह उत्तर दिया है—अहमको असीमत्व प्रदान करके !

'अहमको असीमत्व प्रदान करके !'—इसे स्पष्ट करना पड़ेगा। मैं यह माननेवाला हूँ कि अपना हित अपना सत्य है। हम जो काम करते हैं, उसके दो पहलू होते हैं : एक निजी (Subjective) और दूसरा परोक्ष (Objective) हमारे कामका निजी पहलू अपना सत्य है ; वह न बुधा है, न भला है ; वह प्राकृतिक है, वह अपनेको तुष्ट करता है। अहम अस्तित्व है—अहमको तुष्ट करना जीवन है। दूसरोंका खून चूसकर, कौड़ी-कौड़ी इकट्ठा करके, महल बनानेवाला शोषक अपनी एक आन्तरिक भावनासे प्रेरित होकर ही यह करता है, और लाखों रुपयोंका दान करनेवाला भी अपनी एक आन्तरिक भावनासे प्रेरित होकर ही दान करता है। दोनों ही बराबर है—अगर उसको तुष्टि न मिलती, तो वह शोषक कभी भी खून न चूसता, और अगर उसे तुष्टि न मिलती तो वह दानी कभी भी दान न करता। इन दोनोंमें ही अपनेको तुष्ट करनेकी प्रवृत्ति है। मनुष्यमात्रके लिए अपना हित अपना सत्य है।

और दूसरोंका हित मानवताका सत्य है, और इसी मानवताके सत्यमें हमारे कर्मोंका परोक्ष (Objective) पहलू आता है। हमारे हर कामका असर दूसरोंपर

पड़ा करता है ; हमारे जिस कामका असर दूसरोंके लिए हितकर है, वह मानवताकी दृष्टिसे अच्छा है ; जिस कामका असर दूसरेके लिए अहितकर है, वह मानवताकी दृष्टिसे बुरा है ।

हम अपने लिए जीते हैं अवश्य ; पर हमारा जीवन दूसरोंसे सम्बद्ध है । हर एक पशु अपने लिए जीता है, और वह केवल अपने लिए जीता है—दूसरोंकी उसे ज़रा भी चिन्ता नहीं । हम पशुतासे ऊपर उठे हुए मनुष्य हैं, हमें दूसरोंसे सम्बद्ध जीना है । सीमित और संकुचित अहम पशुताके निकट और मानवतासे दूर है ; उस अहमको हमें विकसित करना है । हममें कोमल और कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं ; हम उन्हें विकसित कर सकते हैं, क्योंकि दूसरोंके सुखमें सुख पानेकी एक दबी हुई अन्तःप्रेरणा हर मनुष्यमें है । अपने बच्चोंके, अपने घरवालोंके, अपने पड़ोसियोंके, अपने नगर-वासियोंके सुखसे ही सुखी होनेवाले मनुष्य अक्सर दिख जाया करते हैं । और इन लोगोंमें एक निजत्वकी प्रबल भावना रहती है ।

अहमको इतना अधिक विकसित करना कि वह सारी दुनियाको ढक ले, सारी दुनियाको निजत्वके अन्दर कर लेना—यही अहमको असीमत्व प्रदान करना है । अपना हित अपना सत्य है, दूसरोंका हित मानवताका सत्य है—अपने सत्य और मानवताके सत्यको एक-रूप कर देना ही अहमको असीमत्व प्रदान करना है ।

मैं बुद्धिवादी हूँ, मेरा देवता है ज्ञान ; और इस देवताके अलावा मुझे किसी देवतापर विश्वास नहीं ।

मनुष्यको पशुसे पृथक् करनेवाली चीज़ है बुद्धि ; और बौद्धिक विकास ही मानवताका चरम विकास है । यह बुद्धि हमे मिली है, इसको हमें विकसित करना है । बुद्धिके ऊपर मेरे लिए कोई दूसरी चीज़ नहीं ।

रहस्यवादपर विश्वास करनेवाले मेरे एक साहित्यिक मित्रने मुझसे एक बार कहा था—“बुद्धि बहुत नीचे स्तरकी चीज़ है; विश्वके अनन्त रहस्य केवल अनुभव किये जा सकते हैं—बुद्धिके ऊपर उठकर हमें उनसे परिचय प्राप्त करना होगा, वहाँ बुद्धिकी पहुँच नहीं !” और उसपर मैंने उनसे केवल इतना कहा था कि जहाँ आप “बुद्धि” कहते हैं, वहाँ आप “मेरी बुद्धि” कह दें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी ।

मनुष्य बौद्धिक विकासके क्रममें है, उसकी बुद्धि अर्ध-विकसित है । मैं मानता हूँ कि बुद्धि द्वारा मैं अनेक चीज़ोंको नहीं समझ सकता ; पर उसमें बुद्धिका दोष नहीं है, अपनी अपूर्णताका दोष है । मेरी बुद्धि इतनी अधिक विकसित नहीं कि मैं उसके द्वारा चीज़ोंको समझ सकूँ ! पर हम अपनी पराजय स्वीकार करनेको तैयार नहीं, अपनी कुरूपताओंके प्रति ज़बर्दस्ती आँखें बन्द कर लेनेकी हममें एक अति कुरूप प्रवृत्ति है । और इसलिए हम अपने दोषको, अपनी कमज़ोरीको बुद्धिका दोष और बुद्धिकी कमज़ोरी कह देते हैं ।

बुद्धिवादी होनेके कारण न मुझे धर्मपर विश्वास है, न उपासनापर । मैं समझता हूँ कि मनुष्य केवल बुद्धि द्वारा पूर्णता प्राप्त करेगा ।

प्राणिमात्रमें मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है, सर्वविकसित है ।

अनादि-कालसे पुरुष और प्रकृतिका अनवरत युद्ध चला आ रहा है। पुरुष अपनी बुद्धि द्वारा प्रकृतिके अनन्त रहस्योंको एक-एक कर सुलभाता आ रहा है। वैज्ञानिक उन्नति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उसने प्रकृतिको बलपूर्वक अपने वशमें कर लिया है ; और यही प्रकृति उसकी असावधानीके कारण समय-समयपर उससे भयानक बदला भी ले लिया करती है। पुरुष प्रकृतिको अपने ही विनाशका साधन बना लेता है। और इसका मुख्य कारण यह है कि जहाँ पुरुष प्रकृतिको जीत रहा है, वहाँ वह अपनी पशुताको नहीं जीत पाया है।

जीवन कर्म है, कर्म बिना भावना असम्भव है ; इसलिए भावना जीवन है। बुद्धि केवल नियन्त्रण करती है। पर अभी तक हमारी बुद्धि हमारी भावनाका नियन्त्रण नहीं कर सकी। हममें हमारी पशुतावाली हिंसाकी कुरूपता अभी तक मौजूद है ; बुद्धिने उसे थोड़ा-सा दबाया अवश्य है ; पर उसे पूर्णरूपसे वशमें नहीं कर सकी, और वह समय-समयपर उभड़ कर सर्वजयी बुद्धिको अपना साधन बनाकर महानाशका ताण्डव नृत्य किया करती है।

पूर्ण विकासके लिए यह ज़रूरी है कि मानव स्वयं अपनेपर विश्वास करे। पूर्ण विकासकी ओर बढ़नेवाला मनुष्य कर्त्ता है, स्वामी है। दूसरोपर अवलम्बित होनेकी प्रवृत्ति गुलामीकी प्रवृत्ति है। भक्ति असमर्थता और पराजयकी प्रतिक्रिया है, दूसरोपर विश्वासका नकारात्मक रूप है। अपनी विवशताके अर्थ हैं अपनी कमज़ोरी, और हमें बुद्धि द्वारा अपनी कमज़ोरीसे लड़ना है।

यह युग जटिल समस्याओंका युग है। अपने द्वारा पैदा की गई उलझनोंमें हम बुरी तरह उलझ गए हैं। अपनी ख़ुदीने बुद्धिको साधन बना लिया है, आज उचित-अनुचितके नियमोंसे हमारे कर्म शासित तो होने लगें हैं ; पर ख़ुदीसे भरे हुए मनुष्यने अपने कर्मोंके औचित्यको सिद्ध करनेके लिए बुद्धिका अनुचित प्रयोग करना आरम्भ कर दिया है। दूसरोंको धोखा देते-देते हम स्वयं अपनेको धोखा देने लग गए हैं।

और मुझे पेंच-ताबकी बातोंसे उलझन होती है। मैं देखता हूँ कि हमारे साहित्यमें दुरुहता और अस्पष्टता बुरी तरह घुस गए हैं। मैं अपने साहित्यिकोंको इसके लिए अधिक दोष नहीं देता ; हमारे साहित्यिक पाश्चात्य विचार-धारासे बुरी तरह प्रभावित हैं। दूसरोंके विचारोंको पढ़ भागना या सुन भागना—यह एक भयानक कमज़ोरी है, जिसके हमारे साहित्यिक शिकार हैं। उन्होंने स्वयं न अनुभव किया है और न मनन किया है। अपनी महत्कान्क्षा और अपनेपनकी सँकरी परिधि ही में केन्द्रित हमारे आजके साहित्यिक 'आज'को ठीक तरह देख नहीं पाते।

मैं यह मानता हूँ कि साहित्यका काम है सृजन,—और सृजनमें नवीनता होनी चाहिए। पर नवीनताका अर्थ दुरुहतासे भरी विचित्रता हो सकती है, यह माननेको मैं कभी भी तैयार नहीं। साहित्य युगका प्रतिनिधित्व करता है—साहित्यका काम है मानसिक सृजन, और इस मानसिक सृष्टिको आधार बनाकर समाज अपनी गति-विधि निर्धारित करता है। पर वास्तविक कलाकार

युगमें दो-एक ही होते हैं, यद्यपि कलाकार बननेकी अभिलाषा अनेकोंमें होती है। कलाकी साधना सारे जीवनकी साधना है, जहाँ व्यक्ति अपनेको कलामें मिला देता है। और दो दिनमें कलाकार बननेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए एक ही उपाय है—लोगोंको चकित करके उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना। यह पेंच-ताब और दुरुहतासे भरी विचित्रता कलाकारमें साधना और अपने ऊपर विश्वासकी कमीको ही प्रदर्शित करती है।

यही नहीं, वह प्रवृत्ति जो एक समय करोड़ों अपदभक्तोंसे साधुओं और परडोंकी गुलामी करवाती थी, आज हमारे अनेक शिक्षित नवयुवकोंसे पाश्चात्य विचारकोंकी गुलामी करवा रही है और उन पाश्चात्य विचारकोंकी नक़ल करनेवाले उन नवयुवकोंमें भी अनेकों विचारक पैदा हो गए हैं, जो एक-दूसरोंके विचार तो क्या स्वयं अपने विचार तक नहीं समझ पाते हैं।

और इन समस्याओंके, इन विचारोंके जालमें फँसकर हम वास्तविक जीवनसे कितना दूर हट गए हैं! इन समस्याओं और विचारोंने आज दुनियाको पीड़ित कर रक्खा है—एक भयानक उथल-पुथल, एक भयानक कुरूपता हमारे जीवनमें घुस गई है। साहित्य सौन्दर्यके सृजनपर विश्वास करता है। कुरूपताका सृजन अकल्याणकारी है। हमें जीवनके वास्तविक सौन्दर्यको देखना है, हमें आजकी विषमतावाली कुरूपतासे ऊपर उठना है। सीधी-सादी बात, सीधा-सादा विचार—पशुता और मानवताके भेदको समझ लेना है। मानवके अन्दरवाली

पशुतासे भरी हिंसाको हमें दूर करना है—अपने हृदयको हमें बराबर बदलते रहना है। लम्बी-लम्बी बातोंकी, लम्बे-लम्बे सिद्धान्तोंकी हमें ज़रूरत नहीं है। मैं तो केवल एक बात जानता हूँ। साहित्य कुरूपताके प्रति मनुष्यमें ग्लानि उत्पन्नकर सुन्दरताके प्रति मनुष्यमें आकर्षण उत्पन्न कर सकता है।

आज मानवताके सामने एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ है—क्या हिंसा कल्याणकारी हो सकती है? हम सब विषमताको दूर करना चाहते हैं; हम सब मानव-जातिको सुखी देखना चाहते हैं। पर क्या उसका साधन हिंसा है या अहिंसा? विश्वका इतिहास हिंसा द्वारा परिवर्तन लानेके प्रयोगोंसे भरा पड़ा है, और हर जगह असफलता ही नज़र आई है! हम इसका उत्तर दया, प्रेम और त्याग में ही पा सकते हैं। क्या हमारा साहित्य इसमें मानव-समाजकी मदद करेगा?

यह मेरा युग है—मैं इस युगका हूँ। मैं अपनेको इस युगसे पृथक कब कर सकता हूँ? मैं मनुष्य हूँ—मेरा अस्तित्व मानवताका अस्तित्व है! अपनी ज़िम्मेदारी मैं देख रहा हूँ—आजकी उलझनों मेरी उलझनों हैं—और मेरा कर्तव्य है कि मैं उन उलझनोंको सुलझानेमें कुछ सहायता करूँ।

जो कहो, वह विश्वासके साथ, निर्भय होकर, स्पष्ट और कामकी बात! बराबर यह बात मेरा अन्तर मुझसे कहता रहता है—और मैं वही कहता भी हूँ। मैं विद्वान नहीं हूँ; होना भी नहीं चाहता। वह विद्वत्ता जो मानवीय सतहसे अलग है—उसपर मुझे विश्वास नहीं।

अपने साहित्यिक मित्रोंको मैं विवाद करते देखता हूँ । ज़रा-ज़रा-सी बातोंपर बालकी खाल वे निकालते हैं, और फिर अपना मत समर्थन करनेके लिए वे लम्बे-लम्बे लेख लिख डालते हैं ! मुझे इन सबपर हँसी आती है । मैं देख रहा हूँ—रास्ता सीधा है, प्रश्न एक है ! हमें मानवताके विकासमें सहायक होना है ! हम किस प्रकार सहायक हो सकते हैं ?

विषय-सूची

१. मैं कबसे ढूँढ़ रहा हूँ	१७
२. प्रिय कितना व्यापक अन्तरिक्ष	१९
३. क्या जाग रही होगी तुम भी	२०
४. घिर रहा निराशा को लेकर	२१
५. प्रिय तुमने ही तो गाए थे	२३
६. यह चहल-पहलसे भरा नगर	२५
७. कवि लिखने बैठा मधुश्रुतु है	३३
८. क्रदम-क्रदम ऐ चलनेवाले	३६
९. मैं सोच रहा हूँ मौन	३८
१०. तुम-मुझमें जब कुछ भेद नहीं	४३
११. यह किस परिवर्तनका सँदेश	—	...	४८
१२. मानापमान हो इष्ट तुम्हें	५३
१३. इस विशाल सम्पन्न नगरके	५९
रमर-चरमर चूँ चरर-मरर	६५
१५. इम ठीक तरह चढ़ भी न सके	७१
१६. पर उजड़ा-सा था एक गाँव	७६
१७. उस दिन मैं कुछ उखड़ा-सा था	८२
१८. कुछ अजब हैरान-सा हूँ	८६
१९. कुछ क्षण, जीवनके कुछ छोटे-से क्षण ये	९१
२०. बस मत कर देना अरे पिलानेवाले	९४
२१. तुम प्रतिहिंसासे प्रतिपालित	९६
२२. जब कलिकाको मादकतामें	१००

[१]

मैं कब से ढूँढ़ रहा हूँ
अपने प्रकाश की रेखा !
तम के पट पर अंकित है
निःसीम नियति का लेखा !

देने वाले को अब तक
मैं देख नहीं पाया हूँ ;

पर पल - भर सुख भी देखा,
फिर पल - भर दुख भी देखा !

किस का आलोक गगन से
रवि शशि उडुगन बिखराते ?
किस अघंकार को लेकर
काले बादल घिर आते ?

उस चित्रकार को अब तक
मैं देख नहीं पाया हूँ ;

पर देखा है चित्रों को
बन-बनकर मिट-मिट जाते !

[१७]

फिर उठना, फिर गिर पड़ना
आशा है वहीं निराशा ;
क्या आदि-अन्त संसृति का
अभिलाषा ही अभिलाषा ?

अज्ञात देश से आना,
अज्ञात देश को जाना,
अज्ञात—अरे क्या इतनी
है हम सब की परिभाषा ?

पल-भर परिचित वन-उपवन
परिचित है जग का प्रति कन !
फिर पल में वहीं अपरिचित
हम-तुम, सुख-सुषमा, जीवन ।

है क्या रहस्य बनने में ?
है कौन सत्य मिटने में ?
मेरे प्रकाश दिखला दो
मेरा भूला अनापन !

प्रिय, कितना व्यापक अन्तरिक्ष,
 ये मेरे कितने शिथिल गान !
 युग - युग के अगणित भोंकों में
 इन दो सौंसाँ का क्या प्रमान !

कल इन दो नयनों में अपने
 भरकर असीमता के सपने
 मैंने गुरुता की एक नज़र
 डाली थी दुनिया के ऊपर !
 फिर अपना मस्तक ऊँचा कर,
 अपनी गर्वान्ध खुदी में भर,
 मैं बोल उठा था गर्वोन्नत—
 “मैं हूँ समर्थ, मैं हूँ महान !”

पर आज थका - सा, हारा - सा ,
 मैं फिरता हूँ मारा - मारा ;
 बैठा छोटे - से कमरे में,—
 —वह भी न बन सकेगा अपना,
 कहता उसका कोना - कोना !
 कितने ही आए, चले गए,
 है कितनों को आना-जाना !—
 होठोंपर ले विषाद - रेखा,
 गत - जीवन की छायाओं से
 मैं घिरा हुआ हूँ सोच रहा :—

कितना नीचा मेरा मस्तक,
 कितना ऊँचा है आसमान !

क्या जाग रही होगी तुम भी ?
 निष्ठुर-सी आधी रात प्रिये !
 अपना यह व्यापक अंधकार
 मेरे सुने - से मानस में
 बरबस, भर देती बार - बार !
 मेरी पीड़ाएँ एक - एक
 हैं बदल रहीं करवटें विकल,
 किस आशंका की विसुध आह
 इन सपनों को कर गई पार ?
 मैं बेचैनी में तड़प रहा !
 क्या जाग रही होगी तुम भी ?

× × ×

यदि एक साँस बन उड़ सकता—
 यदि हो सकता वैसा अदृश्य,
 यदि सुमुखि तुम्हारे सिरहाने
 मैं आ सकता आवुल, अशान्त !
 पर नहीं ! बँधा सीमाओं से
 मैं सिसक रहा हूँ मौन, विवश ;
 मैं पूछ रहा हूँ बस इतना :—
 भरकर नयनोंमें सजल याद
 क्या जाग रही होगी तुम भी ?

[४]

घिर रहा निराशा को लेकर

पावस का यह धुँधला प्रभात !

सिहरन को लेकर पुरवाई

बह रही व्यथा से अति चंचल ;

लो उस तरु पर प्यासा चातक

है बोल पड़ा उन्मत्त - विकल !

काली - काली मेघावलियों

हैं उमड़ रहीं दुख से पागल ;

तड़पे हैं सारी रात यहाँ

जल-जलकर रो-रोकर बादल !

हे मैंने भी तो रो - रोकर

काटी वियोग की काल-रात !

घिर रहा निराशा को लेकर

पावस का यह धुँधला प्रभात !

[२१]

हैं उमड़ रही सर - सरिताएँ
 लहरों में ले उच्छ्वास अरे !
 भू से अम्बर तक फैला है
 आँसू का सकरुण लास अरे !
 फिर भी बढ़ती ही जाती है
 मेरी अनचाही प्यास अरे !
 तुम होकर कितनी दूर प्राण,
 तुम कितनी मेरे पास अरे !

तुमने जिस चितवन से मुझ को
 देखा था, उसको आँखों में—
 सुकुमारि ! तुम्हारी उन सुरभित
 साँसों को, अपनी साँसों में
 मैं भर लाया था ; बदले में
 तुम को देकर अपना सब-कुछ !
 पर प्राण, तुम्हारी चितवन में
 किस अंधकार का धुँधलापन !
 पर प्राण, तुम्हारी साँसों में
 किस मौन विवशता की सिरहन !

भरकर मानस में अंधकार
 लो सिहर उठा है सकल गात !
 घिर रहा निराशा को लेकर
 पावस का यह धुँधला प्रभात !

[५]

प्रिय, तुमने ही तो गाए थे
मैंने ये जितने गीत लिखे !

अम्बर की लाली को उस दिन
तुमने ही था अनुराग दिया ;
तुमने ऊषा को अपनी छवि,
कलरव को अपना राग दिया ;
अपना प्रकाश रवि-किरणों को,
अपना सौरभ मलयानिल को,
पुलकित शतदल को तुमने ही
प्रिय, अपना मधुर पराग दिया !

मेरे प्राणों में तुम हँस दीं,
मेरे स्वर में तुम कूक उठीं ;
पागल मैं कहता हूँ 'अपने'
तुमने ये जितने गीत लिखे !

[२३]

उस दिन जब काली रजनी में
ज्योत्स्ना का सकरुण पीलापन
मिटते तारों को गिन-गिनकर
कर देता था धुँधले लोचन !
तुम समझीं थीं, तुम दूर बहुत,
तुम तो थीं जल - थल - अम्बर में ;
प्रतिकर्ण में तुम, प्रतिक्षण में तुम,
तुम थीं स्पन्दन, तुम थीं जीवन !

मेरे प्राणों में तुम रो दीं,
मेरे स्वर में तुम हूक उठीं ;
मूरख जग कहता है मेरे
तुमने ये जितने गीत लिखे !

एक रात

- १ -

यह चहल - पहल से भरा नगर,
यह राग - रंग से भरी रात !

इस नृत्य - भवन के कोने में
बीती स्मृतियों के बन्द पृष्ठ
मैं उलट रहा हूँ थकित - चकित,
मैं एकाकी, मैं शाप - भ्रष्ट !

अब अन्तर में आह्लाद नहीं,
अब अन्तर में अवसाद नहीं,
अब अन्तर में उन्माद नहीं,
मैं अन्तर को कर चुका नष्ट !

वह क्या ? पंचम में पिक बोली
या पिक-कण्ठी ने ली अलाप ?
प्रतिपल बढ़ता ही जाता है
बेसुध मादकता का प्रलाप !
वह नृत्य मंदिर, संगीत मधुर,
वे पग डगमग, वे शिथिल गात,
मुझसे हँसकर कह रहे, “सुनो
अपने अतीत की एक बात !”

पर व्यर्थ ! अरे युग बीत गए,
युग यहाँ बन चुके स्वप्न-सात्,
कितनी चंचल, कितनी अस्थिर
यह राग-रंग से भरी रात !

- २ -

मेरे अतीत का एक पृष्ठ !
उस दिन जब मेरी दुनिया में
तुम घिर आई थीं प्रथम बार—
नयनों में जीवन - ज्योति लिए,
अधरों पर स्मित का नव-सिंघार,
अलसित स्पन्दन में भरा पुलक,
श्वासों में मादक सुरभि-भार !
उस दिन जब ज्योत्स्ना हँस दी थी,
जब प्राणों में था जगा प्यार !

उस दिन—उस मधु की बेला में
प्रिय ! तुम को पाकर अनायास,
मैं भूल गया अस्तित्व - ज्ञान,
मैं भूल गया था रुदन - हास,

तुम सम्मोहिनि थीं सपने में,
तुम ज्वाला थीं उस तपने में,
तुम स्थिरता थीं, तुम ही गति थीं,
जग तुम में था, तुम आने में !

मैं भूल गया था अन्त वहीं है
जहाँ आदि का है विकास !

यह आदि-अन्त, यह जन्म-मरण,
यह बनने का, मिटने का क्रम,
मैं पूछ रहा—क्या यही ज्ञान ?
क्या यही सत्य व्यापक महान ?

क्या यही नित्य है और यहाँ पर
जो कुछ है वह सब विभ्रम ?

ठहरो तुम ऐ हँसने वालो !
ठहरो तुम ऐ गाने वालो !
इस राग - रंग के विभ्रम में
तुम जीवन को पाने वालो !

हे मैंने भी जीवन देखा,
मैं वही पढ़ रहा हूँ लेखा,
हे कितना गहरा और स्पष्ट !
था मैंने ही तो इसे लिखा
निज उष्ण रक्त की बूँदों से
अपने अतीत का एक पृष्ठ !

- ३ -

मेरे अतीत का वही पृष्ठ !

फिर हम - तुम दोनों अलग हुए
लेकर अपना मिथ्याभिमान,
मस्तक पर मौन विवशता की
कटुता का लिए कठिन विधान,
हम यहाँ दूसरे का ही क्या
अज्ञान लिए हैं अपना ही !

हँस कर आगे बढ़ गए अरे,
बस हम इतना - सा लिए ज्ञान !

पर उस हँसने में निहित व्यंग
वह अरुणलता की पूर्ण विजय,
वह लुब्ध - ज्ञान के गहन गर्त में
विश्वासों का विवश निलय ;
अस्थिर है गति, अस्थिर स्पन्दन,
अस्थिरता ही अविचल अक्षय !

अस्थिर है यह मिलने का क्षण,
अस्थिर तनमयता, प्रेम, वरण,
अस्थिरता की ही गति में तो
टकराकर हट जाते कण - कण !

अस्थिरता ही के रूप अरे,
हम जिनको कहते सृष्टि, प्रलय !

अस्थिरता की ही मदिरा में
है भ्रूम रहा यह नृत्य-भवन,
स्वर काँप रहे हैं मस्ती में,
उन्माद - भरी गति में नर्तन,
मादक सौरभ से भरा हुआ
है डोल रहा उच्चत पवन,
पर प्रिय ! मैं कितना खोया-सा
कितना अशान्त, कितना उन्मन !

मैं सोच रहा हूँ अस्थिरता का
भी क्या होता कहीं अन्त ?

यह क्या—सहसा संगीत रुका !
यह क्या—सहसा उन्माद भुका !
ये शिथिल अंग, झपती आँखें !

जानेवालों के पद के स्वर
कह रहे एक स्वरमें मिलकर—
'है नहीं यहाँ कुछ भी अनन्त !'

यह अन्त ! यही अस्थिरता का
पग एक और दूसरा आदि,
बस अस्थिरता ही है अनन्त,
बस अस्थिरता ही है अनादि !

मेरे जीवन के कितने ही
पन्ने तो हैं हो चुके नष्ट !
होना इसका भी अन्त अरे
मेरे अतीत का एक पृष्ठ !

- ४ -

मदिरा के अन्तिम दौर यहाँ
चल रहे, रिक्त है नृत्य-भवन !

बुझते प्रकाशके साथ बढ़ रहा
है मानस का धुँधलापन ;
कुछ आज सुबहसे ही मुझमें
हो रहा अजब - सा परिवर्तन ।

जब कहा किसी ने था मुझ से
—निज शुष्क हास्यमें लिए रुदन—
दर्पण में तुम ने देखा है,
हो गए तुम्हारे श्वेत केश !

उस मान - भरे निज यौवनके
कुछ लिए हुए भग्नवेश,
कुछ ठंढे-से उच्छ्वास लिए,
कुछ खिन्न-मना, कुछ मलिन-वेश,

तुम सोच रही होगी क्या-क्या ?
ले यौवन की ढलती संघ्या !
इस महायज्ञमें डाल चुकी
हो तुम अपनी अन्तिम स्वाहा !

माना कि शान्तिकी सुन्दरता
है लिए हुए यह श्वेत जरा,
माना कि ज्ञानमय चिन्तनमें
है मतवाला ऐश्वर्य भरा,
मैंने सब माना, पर इतना
तुम भी मानोगी, निश्चय है—
है उसका जीवन भार, नहीं
है जिसके जीवनमें ममता !

तुम जिसको ममता समझे थीं,
वह तो थी केवल एक चमक,
जब देवि ! तुम्हारे दरवाजे
वे भोले, वे सुकुमार - युवक
पीकर मादक कल्पना - सुरा
ये बिसुध चूमते चपल चरण !

तब गर्वोन्नत हँस पड़ती थीं
तुम दास समझ उनको अपना,
तुम चिर-यौवनका, चिर - विलास
का देख रही थीं सुख-सपना !

पर वह सपना, यह श्वेत जरा !
दोनों में कितना व्यंग भरा !

क्या कहा, 'मुक्ति की दीवानी'
तुम 'बीतराग की शान्त अमा',
पर बहुत कठिन है, बहुत कठिन
यह अपनेको धोखा देना !

हम मुक्ति-मुक्ति ही रटा करें
पर यहाँ इष्ट हमको बन्धन !

- ५ -

काली रजनी, सूनी सड़कें,
सोया-सा मौन विशाल नगर !

उत्तरी वायु के झोंके में
है भरी हुई हलकी सिहरन,
मेरे उर में भी भरी हुई
है कुछ अनजानी-सी कसकन !

वह राग-रंग, यह शून्य मौन ;
क्यों व्यथा-सिक्त मेरी उसाँस ?
क्यों चौंक उठा मैं अनायास ?

क्यों चौंक उठा यह तिमिर गहन ?

मैं पूछ रहा हूँ यह सब क्या ?
कल कहाँ और मैं आज कहाँ ?
जो सकी मुझे तुम से न छिपा
कितनी छोटी यह बसुन्धरा !

मैं तो चलता ही जाता हूँ,
मेरे चलने का नहीं अन्त !

यह क्या, पूरब में क्या देखा ?
हलकी - सी लाली की रेखा ;
लो बात चुकी है रात और
दिन का पहला आभास मिला !

दिन - रात कह रहे हैं मिलकर—
जीवन गति है, गति है अनन्त !

[७]

कविका स्वप्न !

- १ -

कवि लिखने बैठा—मधुश्रुतु है,
मधु से मतवाला है मधुवन ;
भौरों की है गुंजार मधुर,
पिक के पंचम में है कम्पन !
मलयानिल के उन भोंकों में
सौरभ के सुषमा की सिहरन ;
अधखुली कली की आँखों में
सुख - स्वप्नों की कोमल पुलकन !

[३३]

- २ -

कवि लिखने बैठा—मधुवन में
फूलों का सुन्दर एक सदन ;
शत - शत रंगों की धाराएँ
रच रहीं जहाँ शाश्वत यौवन !
उल्लास उमंगें भरता है,
विश्वास - भरा अक्षय जीवन ;
है जहाँ कल्पना का सुन्दर
अभिमन्त्रित कोमल आलिंगन !

- ३ -

कवि लिखने बैठा—एक युवक
जिस पर न्यौछावर सहस्र मदन ;
श्वासी में है उच्छ्वास भरा,
उन्माद - भरी जिसकी चितवन !
वह निज वैभव में मुग्ध-विसुध,
निज अभिलाषा में लीन मगन ;
अपने मानस के पद पर वह
करता सुख का संसार - सृजन !

- ४ -

कवि लिखने बैठा—नवबाला
जिसकी आँखों में भोलापन,
जिसके उभरे बक्षस्थल में
अज्ञात प्रेम का नव - स्पन्दन,

नूपुर - ध्वनि में संगीत स्वयम्
करता उन चरणों का बन्दन,
निज बाहों की जयमाला का
लेकर आई है दृढ़ बन्धन !

- ५ -

कवि सहसा सिहरा, काँप उठा
सुन भूखे बच्चों का रोदन,
पत्नी की पथराई आँखों में
केन्द्रित था जग का क्रन्दन,
गन्दे - से टूटे कमरे में
होता अभाव का था नर्तन,
कवि खड़ा हो गया पागल - सा,
उसके उर में थी कौन जलन ?

[८]

क़दम-क़दम ऐ चलनेवाले, सम्हल-सम्हल कर क़दम-क़दम !

एक पहेली - सी फैली है यह अनजानी राह यहाँ,
जग के सपनों से लिपटी है युग - संसृति की आह यहाँ,
कितने ही अरमान सिसककर मिट्टी में मिल चुके अरे,
और आँसुओं से निर्मित हैं कितने उदधि अथाह यहाँ !

तेरे उर में अनियन्त्रित गति, तेरे नयनों में विभ्रम,
क़दम-क़दम ऐ चलनेवाले, सम्हल-सम्हल कर क़दम-क़दम !

सुना यहाँ पर एक प्यास है, और प्यास में एक जलन,
कुछ उसको पुलकन कहते हैं, कुछ उसको कहते तड़पन,
इस पुलकन को हँसी कहो या इस तड़पन को रुदन कहो,
हँसी - रुदन की सीमाओं से भरा हुआ है यह जीवन !

इस जीवन का एक मरम है हँसी - रुदन का एक मरम ;
क़दम-क़दम ऐ चलनेवाले, सम्हल-सम्हल कर क़दम-क़दम !

[३६]

अपनी हस्ती के मद में कुछ पड़े हुए मदहोश यहाँ,
अपनी निर्बलता से पीड़ित कुछ बैठे झामोश यहाँ,
अन्तहीन इस विस्तृत पथ पर असफलता का मेला है,
कुचल न दे उन बेचारों को इन पैरों का जोश यहाँ !

पतितों ही के लिए मिला है तुम्हें यहाँ पर दया - धरम ;
कदम-कदम ऐ चलनेवाले, सम्हल-सम्हल कर कदम - कदम !

सुधा - पात्र तू लिए हुए है, विश्व लिए है यहाँ गरल,
जग में है विकराल अनल, तुरू में है सुख - सुषमा कोमल !
अरे अमर, तू आज हलाहल का प्याला हँसकर पी जा,
और लुटा दे सुधा अमरता का प्यासा है विश्व विकल !

तू समर्थ है, तू स्वामी है, तू स्रष्टा है और परम !
कदम-कदम ऐ चलनेवाले, सम्हल-सम्हल कर कदम-कदम !

पैंतीसवीं वर्षगाँठ पर

- १ -

मैं सोच रहा हूँ मौन
सामने है प्रातः की प्रथम किरण !

आगे है अनजाना भविष्य,
पीछे है भूला - सा अतीत !
दिन आए, फिर रातें आईं,
पैंतीस वर्ष यों चुके बीत !

पैंतीस वर्ष निर्बलता के,
पैंतीस वर्ष असफलता के,
पैंतीस वर्ष तिल - तिल गिरने
की इस उद्भ्रान्त विवशता के !

पैंतीस वर्ष का ज्ञान विषद
जीवन की केवल एक जीत !

मैं सोच रहा जीवन गति है,
फिर क्यों हैं मेरे शिथिल चरण ?
मैं सोच रहा हूँ मौन,
सामने है प्रातः की प्रथम किरण !

मैं सोच रहा हूँ मौन,
सामने पड़ा हुआ जग का आगम !
हो रहा निपट अनजानों में
कुछ अनजाना - सा मेल यहाँ !
पहचान - जान, मैं देख रहा
केवल पल - भर का खेल यहाँ !

यह मेल और यह खेल, अरे
है यह सब क्यों, है यह सब क्या ?
क्यों जागृति की कसकन का युग
बनता पल भर का सुख - सपना ?

वह भरा हुआ मदहोशी से
पुलकित दो प्राणों का बंधन,
वह नव-पुलकन, वह प्रेम-मिलन,
कोमल सिहरन का आलिंगन,
क्यों एक निमिष में बन जाता
मानस का असह करुण क्रन्दन ?

थी मिली मुझे क्यों वह ममता ?

मेरी छोटी - सी अभिलाषा पर
था उस का जीवन अर्पित,
उसकी भद्रा पर, पूजा पर
मैं रह जाता था मौन चकित !

वह त्याग - भरा अनुराग लिए,
जीवन का कोमल भाग लिए,

आई थी मानस के हिम की
जड़ता में मधु की आग लिए !

मुझ में निज बल भर देती थी,
जब हो जाते थे प्राण थकित !

मेरे सुख में था उसका सुख ;
मेरे दुख में था उसका दुख ;

मेरे कानों में गूँज रहा
है उसका सकरुण कातर स्वर—
“बिलुङ्गन की ही आशंका से
प्रिय, उठते मेरे प्राण सिहर !”

फिर पत्थर बनकर मैंने ही
उसका तिल - तिल मिटना देखा,
रख चुका चिता पर हूँ उसको
जिस ने था मुझ को प्यार किया !

करुणामयि तुम अयि देवि उमा !
मैं पूछ रहा, तुम कौन ? कहों ?
तुम क्यों आई ? क्यों चली गई ?
क्या फिर से भी मिलना होगा ?
क्या हम पहचान सकेंगे भी ?

मैंने तो देखा था शरीर,
वह तो कब का बन राख चुका !
आत्मा ? क्या पहचानूँगा जब
निज को न स्वयम् पहचान सका ?

मैं पूछ रहा, मेरे उर पर
क्यों भार बन गई वह ममता ?

इन अपलक आँखों के आगे
है एक अजब - सा सनापन !
मैं सोच रहा हूँ मौन,
सामने पड़ा हुआ जग का आगिन !

- ३ -

मैं सोच रहा हूँ मौन,
सामने है भूला - सा अपनापन !

मैं क्यों आया हूँ और यहाँ
पर है मुझ को क्या - क्या करना ?
जीने के प्रति पग पर कितनों का
देख रहा हूँ मैं मरना !

मेरे सुख - वैभव को घेरे
हैं कितने दलितों की आँहें !

मैं देख रहा, प्रत्येक हँसी पर
अनगिनती साँसें भरना !

मैं पूछ रहा हूँ अपने से,
मैंने कब सोचा भला - बुरा ?
क्यों अहम्मन्यता से कलुषित
है यह मेरी साहित्य - कला ?

जो थे प्राणों से प्रिय मुझ को,
वे छोड़ चले मुझ को रोता !
फिर व्यर्थ मोह का यह बंधन,
फिर व्यर्थ यहाँ सारी ममता,
पथभ्रष्ट मुझे कर रही यहाँ
है क्यों यह मेरी कायरता ?

सुनकर सबलों की हुंकारें,
सुनकर निबलों की चीत्कारें,
सुनकर पशुता की ललकारें,
क्यों मौन विवश है मानवता ?

हैं आज हृदय में कसक रहे
ये मेरे पैरों के बंधन !
मैं सोच रहा हूँ मौन,
सामने है भूला - सा अपनापन !

[१०]

याद

- १ -

तुम - मुझ में जब कुछ भेद नहीं,
तब प्रिय, तुम से कैसा दुराव ?
तुम आई तो मेरे जीवन में,
पर आई बनकर अभाव !

मैं अभी चौंककर जाग उठा हूँ
कुछ सहमा - सा कुछ चंचल ;
कुछ एक कसक - सी है उर में,
कुछ है प्राणों में उथल - पुथल ;

फड़फड़ - फड़फड़ उड़ गया अभी
भर एक चीख कर्कश उलूक !

खड़खड़ - खड़खड़कर कॉप उठा
मेरे दरवाजे का पीपल !

[४३]

दो बजे—मौन की छाती पर
घन - घन—वह घंटे का प्रहार !
चिल्लाया चौकीदार अभी—
'ओ सोने वालो, खबरदार !'

सुन रहा घड़ी-सी टक-टक करती
मैं अपने दिल की धड़कन ;

मेरी आँखों में समा गया है
क्षुब्ध अमा का अंधकार !

मैं देख रहा, मुझ से कितना
दुख की दुनिया का है लगाव !
मैं सोच रहा, क्या जीवन की
चिर - तृष्णा ही है चिर-अभाव !

- २ -

मैं सोच रहा, इन दिनों मुझे
पड़ गई सोचने की आदत ;
वह हँसी - खेल, वह राग - रंग,
वह चहल - पहल बन गया असत !

तुम क्या जानो, यह अनायास
हो गया न जाने मुझ को क्या !
या बदल गया हूँ मैं ही कुछ
या बदल गई है यह दुनिया !

कुछ अजब रँगता दर्द भर गया
है इस एकाकीपन में,

तुम को खोकर हे करुणामयि !

मिल गई मुझे जग की करुणा !

सब ओर जहाँ तक देख रहा हूँ,
हे बनने की अभिलाषा !
मैं देख रहा हूँ, अरे वहीं पर
मिट जाने की असफलता !

प्रतिपल, प्रतिदिन, प्रतिमाह - वर्ष
कटते जाते जैसे - तैसे !

मैं देख रहा, जीवन का क्रम तो
महामृत्यु की है सत्ता !

लघु जीवन के कितने सपने
बन - बनकर हो जाते विद्वत ;
मैं सोच रहा हूँ पागल - सा,
कितना अपना अस्तित्व असत् !

- ३ -

मुझ में यह कैसी बेचैनी,
मैं लेता हूँ किस की आहट !
मैं बदल रहा हूँ खोया - सा
उलझन से भरी हुई करवट !

हे कितनी गहरी और असह
मुझ को घेरे यह नीरवता !
इस विस्तृत नभ की व्यापकता
हे नाप रही मेरी लघुता !

है अभी - अभी जो टूट चुका
मेरा वह छोटा - सा सपना,
कह गया—निहित मिटने ही में
तो है यह बनने की गुरुता !

मैं कल क्या था ? मैं सोच रहा,
क्यों ? कैसे ? क्या बन आज गया ?
जग की पीड़ा में पाया है
मैंने अपना अस्तित्व नया !

है उत्पीड़न की आह कहीं,
है कहीं भूख का दर्द कठिन !
मैं देख रहा हूँ मौन - विवश,
यह जग की बर्बरता अभया !

‘कायर न बनो, कुछ काम करो ;’
मैं सुनता हूँ प्राणों की रट !
मेरी मानवता बदल रही
उलझन से भरी हुई करवट !

- ४ -

मेरी करुणा में आज मिल गया
जग के आँसू का बहाव !
प्रिय, तुम में ही पाया मैंने
पीड़ित जग का दारुण अभाव !

ऊपर—नम पर कुछ थोड़े - से
टिम - टिम करनेवाले तारे
हैं बाँट रहे अँधियाले जग को
कुछ प्रकाश वे बेचारे !

सब अपनी - अपनी जलन दे रहे
हैं दुख से धुँधले जग को,
मैं जलूँ, किन्तु जग को प्रकाश
दें मेरे उर के अंगारे !

निस्तब्ध मौन मैं पड़ा हुआ
कितना गँभीर, कितना उदास !
प्रिय, अथक साधना का मैंने
पाया है तुम में नव - विकास !

जीवन के इस दुस्तर पथ पर
तुम मुझे दे रही हो साहस !

मेरे उर में बन एक घाव
तुम कितनी मेरे आज पास !

मेरी मानवता जाग उठी
पाकर यह मेरा चिर - अभाव !
हो मुझे मुबारक यह मेरे
दिल का नन्हा - सा हरा घाव !

- १ -

यह किस परिवर्तन का सँदेश,
जो चौंक उठी है अर्ध - निशा ?
'घन-घन-घन' घण्टों की ध्वनिमें
जो सिहर उठी है दशों - दिशा !

आया है जग में नया वर्ष !

छाया है जग में नया वर्ष !

किस उत्सुकता का नव - स्पन्दन,
किस आकांक्षा का नव - जीवन,
अपने उस विस्तृत अंचल में—
जिसमें लिपटा दुख से पीड़ित
मानव मुख ढाके पड़ा हुआ,
अति थका हुआ, सब कुछ भूला
खोकर पल - भर को 'अपनापन'
विस्मृति की गहरी निद्रामें !—
अपने उस विस्तृत अंचल में
किस आशा के वे सुखद - स्वप्न

लाया है जग में नया वर्ष !

हस पड़ा विश्व रोता - रोता,
मैं जाग पड़ा सोता - सोता,

सड़कों पर कैसा कोलाहल ?
निशि की नीरवता में हलचल ?
है नाच रहा कोने - कोने में
व्यंग - भरे किस अट्टहास का
व्यंग - भरा उन्माद चपल ?

मेरे मानस का अन्धकार
कुछ और हो गया है गहरा !
मेरे नीचेवाली धूमिल
लोहू से सिंचित उष्ण घरा
भरकर ढंढा निःश्वास एक
कह उठी, “युगों से देख रही
मैं नये वर्ष का नया हर्ष !”

- २ -

यह नये वर्ष का नया हर्ष !
मैं क्यों गँभीर, मैं क्यों उदास ?
जब यहाँ मत्त उल्लास - लास
फैला है मेरे आस - पास !

ये नृत्य - भवन, ये मदिरालय !
हैं आज अचानक भूम उठे
पागलपन के सुख में तनमय !

है जहाँ नशीली आँखों में
खेल - सा रहा उन्मद उछाह,

है जहाँ छलकते जामों में
 उमड़ी अतृप्ति की प्रबल चाह !
 हैं शिथिल गात, हैं पग डगमग,
 अपने को कितना भूला जग !
 लोगों ने कितने स्वाँग भरे,
 पहने हैं कपड़े श्वेत, हरे,
 या नीले, पीले, लाल - लाल !
 बाहों में बाँहें डाल - डाल
 उमड़ा पड़ता जन - रव विशाल !
 बन सत्य और शाश्वत सकता

यदि पल - भर वाला यह अभिनय !

जग देख रहा यह राग - रंग,
 जग देख रहा यह हर्ष - विभव,
 जग देख रहा है मानव की
 चेतना - हीन पशुता वाला
 यह नये वर्ष का नव उत्सव !

इन मदहोशों की दुनिया में
 है एक अजब - सी चहल - पहल !
 मेरी दुनिया कितनी उजड़ी,
 है उसमें कितनी उथल - पुथल !
 निज हुंकारों में नाश लिए
 वे टैंक और मैशीन - गनों !
 छाती में घुस जाने वाली
 पैनी, चमकीली, संगीनों !
 देवता - रूप वे 'डिक्टेटर'
 लोहू से जिन के हाथ सने !

नभ से बम बरसाने वाले
घातक, विध्वंसक वायुयान !
वे गैस और कीटाणु जो कि
दे रहे विश्व को मृत्यु - दान !

कल जिस कुटुम्ब में हँसी - खुशी
जिसमें सुख का पुलकन - स्पन्दन,
है वहीं धुन रही सिर विधवा,
करते अनाथ सकरुण क्रन्दन !
उर से चिपकाये बच्चे को
उस कठिन, कँटीले, कँकरीले
पथ पर है घिसट रही माता
नभ से गिरते बम ज़हरीले !
मिट गए सकल घर - बार और
बिखरी है लाशें ठौर - ठौर !
पोलैण्ड कल, कि फिनलैण्ड आज,
बर्बरता का हर तरफ़ राज !
मेरी दुनिया है बिलख रही,
मेरी दुनिया पर गिरी गाज !
मैं देख रहा अपनी दुनिया में
दानवता का महा प्रलय !

- ३ -

दुख से पीड़ित मानव को भी
क्या कभी मिलेंगे शान्ति - हर्ष ?
तुम किस भविष्य को लाए हो
निज धुँधलेपन में नए वर्ष ?

हिंसा के ताण्डव नर्तन का
 कह दो क्या होगा कभी अन्त ?
 बोलो, मानव की यह पशुता
 क्या है अक्षय, क्या है अनन्त ?
 क्या प्रेम, दया, औ' त्याग यहाँ
 हैं क्षणिक, और हैं सारहीन ?
 क्या सृष्टा का अस्तित्व घृणा ?
 क्या सृष्टि सकल चेतनाहीन ?
 क्या बुद्ध अमिट ? जब यहाँ मिट
 रहे हैं लड़ कर जापान - चीन !
 है कहाँ अरे ईसा ! यौरप
 तो रक्तपान में है प्रवीन !

जग के उतीड़न का, बोलो
 गांधी का वह धीमा - सा स्वर
 निज प्रेम और मानवता से
 क्या यहाँ दे सकेगा उत्तर ?

या फिर वे हिटलर, स्टेलिन ही
 अपनी हिंसा की बर्बरता
 को ही रक्खेंगे यहाँ अमर ?

१ जनवरी १९४०]

जीवन दर्शन

मानापमान हो इष्ट तुम्हें
मैं तो जीवन को देख रहा !

मैं देख रहा दानवता के
दुःसाहस के विकराल कृत्य,
मैं देख रहा बर्बरता का
भू की छाती पर नम्र नृत्य,
मैं देख रहा उठने वाली
अम्बर पर संसृति की उर्साँस,
मैं देख रहा यह मानवता
कितनी निर्बल, कितनी अनित्य !

जमघट है रोने वालों का,
जमघट है गाने वालों का,
सब देने को लाए थे पर
जमघट है पाने वालों का,
कुछ बने लुटेरे लूट रहे
कुछ बने भिखारी माँग रहे

है जमा मिटाने को ही यह
जमघट मिट जाने वालों का !

मैं जग को सुख देने वाले
जग के क्रन्दन को देख रहा !
मानापमान हो इष्ट तुम्हें
मैं तो जीवन को देख रहा !

- २ -

मैं अभी देख कर आया हूँ
गर्वोन्नत हँसता एक महल,
जिस में श्रीमानों का जमाव,
अपनी गुरुता में उच्छृंखल,

वैभव का अथक प्रलाप लिए,
उत्पीड़न का संताप लिए,
था भ्रूम रहा उन्माद - ग्रस्त
निज पशुता का अभिशाप लिए !

उनके पैरों पर सिसक रहा
था आँसू से भीगा भूतल !

मैं सोच रहा था मौन वहाँ—
मैं देख रहा था कौन कहाँ !

वे भूपति थे, अति शानी थे,
वे पूँजीपति थे, दानी थे,
वे यश, श्रद्धा के पात्र, अरे
वे थे सुमर्त्य, अभिमानी थे !

उनके मस्तक पर खेल रहा
 था अहम्मन्यता का पिशाच,
 उनके प्यालों के साथ-साथ
 थीं जग की आहें रहीं नाच !
 कह उठा एक—“हम जो कह दें
 वह न्याय, वही है बुरा - भला !”
 दूसरा कह उठा “हम से ही
 जीवित है सब साहित्य, कला ।”

पर उस कमरे की दीवारें,
 भर-भरकर विष की फुफकारें,
 कह उठीं, “अरे तुम हत्यारे,
 तुम सदा घोटते रहे गला !

हम खड़ी हुई उन नीवों पर
 जो चुनी गई कंकालों से !
 इतिहास हमारा तुम पूछो
 उन भूखों मरनेवालों से !”

- ३ -

भीतर उठता था राग-रंग,
 बाहर था ‘जय - जय’ का निनाद ;
 जूटे टुकड़े पाकर भूखे
 ये बाँट रहे आशीर्वाद ;

“भगवान तुम्हारा भला करे
 कुल बढ़े और सम्मान बढ़े !”

वे मांसहीन, वे रक्तहीन,
वे अन्नहीन, वे वस्त्रहीन,
वे सड़कों पर सोनेवाले,
वे धूल - धूसरित अति मलीन,

चिथड़ों में ले दुर्गन्ध कड़ी,
रोगों से उनकी देह सड़ी,
उनके मुख से थी छूट रही
कलुषित बचनों को एक झड़ी,

वे घोर नरक में पड़े हुए,
वे जग - जीवन से उदासीन !

“वे किन की जय - जय करते हैं ?
किन को देते आशीर्वाद ?”
मैं पूछ रहा था, अन्तर में
लेकर मानवता का विषाद !

कैसा विषाद ? क्या मानवता ?
मेरे सन्मुख तो है पशुता !
ये भक्ष्य और वे भक्षक हैं,
इनमें लघुता, उनमें गुरुता,

इनकी तड़पन, उनका विलास,
मैं देख रहा निर्माण - हास !
ये तो मिटने को जीवित हैं,
हे उन्हें रक्त की प्रवल प्यास !

क्या कभी इन्हों ने सोचा है
हे मिली इन्हें भी मानवता ?

यदि सोच - समझ सकते केवल
 ये मिटनेवाले भिखमंगे,
 तो क्यों ये यों तिल - तिल मिटन
 रहकर भूखे, रहकर नंगे ?
 जो हैं इनके ही काल अग्रे
 क्या ये उनकी जय - जय करते ?
 जीवन का निज अधिकार गंवा
 क्यों जूठे टुकड़ों पर मरते ?

- ४ -

वह राग - रंग ! वह त्राहि - त्राहि !
 जग की चीत्कारों का जमघट !
 यह क्या—सन्मुख ही नाच उठा
 किन हाहाकारों का मरघट !

मैं देख रहा भू पर रखे
 धनिकों के, कंगालों के शव !
 उन सर्व - भक्षिणी लपटों का
 मैं सुनता हूँ अति कर्कश रव !
 जग के शापों से लदा हुआ
 दो दिन का यह उन्माद - विभव,

दो दिन की पशुता का जीवन
 हो रहा चिता में यहाँ प्रकट !

केवल मुट्ठी - भर अन्न, एसी
 पर केन्द्रित मानव का जीवन,

दा - चार हाथ कपड़ों से ही
ढेक जाता है मानव का तन,
छ हाथ भूमि पर बना हुआ
है मानव का ऐश्वर्य - सदन,
फिर क्यों इतना मानापमान
इतनी तृष्णा, इतना क्रन्दन ?

मैं हँस कर पागलपन को
रोकर उत्पीड़न को देख रहा !
मानापमान हो इष्ट तुम्हें
मैं तो जीवन को देख रहा !

विषपता

[१३]

- १ -

इस विशाल सम्पन्न नगर के
हँसनेवाले राज - मार्ग पर
आज सुबह मैंने देखी थी
एक विकृत - सी लाश पड़ी !

सड़ा हुआ उसका शरीर था,
मुख पर थी पीड़ा की ऐंठन,
निकल पड़ी थी कुछ बाहर को
उसकी आँखें बड़ी - बड़ी !

और भिनभिना रही मर्कटियाँ
थी उसके मैले चिथड़ों पर,
उसके मल से और वमन से
उठती थी दुर्गन्ध कड़ी !

दुग्ध और पीड़ित मानवता
अपने ही उस उजड़ेपन की
घोर यातनामय लजा में
जाती थी चुपचाप गड़ी !

[५६]

आज सुबह से एक उदासी
समा गई है मेरे अन्दर
है शरीर निस्पन्द, शिथिल - सा
उखड़ा - उखड़ा मेरा मन !

यह वैभव की चहल - पहल सब
मुझे लग रही यहाँ अजब - सी,
हास और उल्लास बन गया
मेरे कानों में क्रन्दन !

पड़ा हुआ अपने कमरे में
ले अपने एकाकीपन को,
ले अपनी अशान्त असफलता,
ले अपना अज्ञान गहन ;

सोच रहा हूँ मानव बनकर
पशु से भी हम हीन बने क्यों ?
हम समर्थ, सम्पन्न, किस लिए
फिर यह इतना उत्पीड़न ?

लो, अच्छे आ गए दोस्त तुम,
आओ, बैठो, बात करें कुछ,
यह मेरी विचार - धारा तो
है प्राणों को रही अखर !

कहो, सुना तुम ने भी है कुछ,
सेठ हमारे रामचन्द्र ने
आज दिया हम सब लोगों को
है फ़रपो में एक डिनर !

और साथ में वहाँ रहेंगी,
चुनी हुई इस बड़े नगर की
दर्जन - भर सुकुमार युवतियाँ
जिन का यौवन रहा निखर,

एक जश्न - सा वहाँ जमेगा,
मदिराओं के दौर चलेंगे,
सेठ हमारे चुने गए हैं
अबकी कौंसिल के मेम्बर !

- ४ -

तुम क्या जानो सेठ हमारे
रामचन्द्र की तीस मिलें हैं !
कितने ही मज़दूरों का वे
करते हैं पालन पोषण !

बीच नगर में वह दानव - सा
खड़ा हुआ जो फाड़ रहा है
नभ की छाती, वह अठमहला
उनका ही ऐश्वर्य - सदन !

कितना उनका गुरु प्रताप है,
करते ही रहते हैं नित - प्रति
कितने नेता और महात्मा
उनके चरणों का चुम्बन !

धर्म - मूर्ति वे दयावान हैं,
वे दानी हैं, वे उदार हैं,
अखबारों में छपता रहता
उनके यश का है वर्णन !

- ५ -

हाँ, तुम हो बेकार आज कल !
ज़िक्र किया था मैंने उनसे,
पर उनको दुख है कि इस समय
वे कर सकते नहीं मदद !

दस प्रतिशत का उन्हें मुनाफ़ा
होते जिस के साठ लाख थे,
तीस लाख इस वर्ष रह गया,
घाटे की होती है हद !

कितने नौकर गए निकाले,
कितनों की तनख़्वाह घटी है,
इस प्रकार पूरी करनी है
उनको उस घाटे की मद ;

मजबूरी है उनको कितनी,
यदि न करें वे यह सब कुछ तो
किस प्रकार फिर चल सकता है
वह उनका व्यौपार विषद ?

- ६ -

अरे दोस्त यह हुआ तुम्हें क्या ?
तुम पीले पड़ गए अचानक,
काँप उठे ये होठ तुम्हारे
और हो गए सजल नयन !

उन लखपतियों के दर - दर की
तुम ने ठोकर खाई दिन भर,
काम दूँदते रहे, मिला है
नहीं आज तुमको भोजन !

थके हुए हो, घरवालेने
पा न किराया तुमको कमरे
के बाहर कर दिया, नहीं है
सोने तकका भी साधन !

सेठ हमारे रामचन्द्रकी
मौज और मस्ती का उत्सव
आज तुम्हारे लिए बन गया
एक भयानक नरक - गहन !

[६३]

यह क्यों तुम उठ पड़े चौंकर !
नत-मस्तक चल पड़े कहाँ तुम !
मुझको लेने को आई है
हार्न दे रही है मोटर !

बैठो भी, जाने दो उनको,
हँसने दो, गाने दो, उनको,
चना - चबेना का हम दोनों
आओ खा लें यहाँ डिनर !

फिर आओ हम - तुम दोनों मिल
हत्यारों के कठिन पाप को
क्षमा करें, वे नहीं जानते
सत्य और शिव औ' सुन्दर !

अपनी मानवता से आओ,
हम उनकी पशुता को जीतें,
घृणित लाश वह आज कह गई
प्रेम घृणा के है ऊपर !

[१४]

भैंसागाड़ी

- १ -

चरमर - चरमर - चूँ - चरर - मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी !

गति के पागलपन से प्रेरित
चलती रहती संसृति महान,
सागर पर चलते हैं जहाज़,
अम्बर पर चलते वायुयान,
भूतल के कोने - कोने में
रेलों - ट्रामों का जाल बिछा,
हैं दौड़ रही मोटरें - बसें
लेकर मानव का वृहत ज्ञान !

पर इस प्रदेश में जहाँ नहीं
उच्छ्वास, भावनाएँ, चाहें,
वे भूखे, अधखाए किष्पान
भर रहे जहाँ सूनी आहें,

[६५]

नंगे बच्चे, चिथड़े पहने
माताएँ जर्जर डोल रही,
हे जहाँ विवशता नृत्य कर रही
धूल उड़ती है राहें,

बीते युग की परछाहीं - सी
बीते युग का इतिहास लिए,
'कल' के उन तन्द्रिल सपनों में
'श्रव' का निर्दय उपहास लिए,
गति में किन सदियोंकी जड़ता !
मनमें किस स्थिरता की ममता !
अपनी जर्जर - सी छाती में
अपना जर्जर विश्वास लिए,

भर - भर कर फिर मिटने का स्वर,
कँप - कँप उठते जिसके स्तर - स्तर,
हिलती - डुलती, हँपती - कँपती,
कुछ रुक-रुक कर, कुछ सिहर-सिहर,
चरमर - चरमर - चूँ - चरर - मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी !

- २ -

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे,
कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों - से
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर !

मैं कहता हूँ खँडहर उसको,
 पर वे कहते हैं उसे ग्राम,
 जिसमें भर देती निज धुँधलापन
 असफलता की सुबह - शाम,
 पशु बन कर नर पिस रहे जहाँ
 नारियाँ जन रही हैं गुलाम,
 पैदा होना, फिर मर जाना,
 बस यह लोगों का एक काम,

था वहीं कटा दो दिन पहले
 गेहूँ का छोटा एक खेत !

तुम सुख - सुघमा के लाल
 तुम्हारा है विशाल वैभव - विवेक,
 तुमने देखी है मान भरी
 उच्छृङ्खल सुन्दरियाँ अनेक,
 तुम भरे - पुरे, तुम दृष्ट - पुष्ट
 ऐ तुम समर्थ कर्ता - हर्ता,
 तुमने देखा है क्या बोलो
 हिलता - डुलता कंकाल एक ?

वह था उसका ही खेत, जिसे
 उसने उन पिछले चार माह,
 अपने शोणित को सुखा - सुखा,
 भर - भर कर अपनी विवश आह,
 तैयार किया था, औ' घर में
 थी रही रुम पत्नी कराह !

उसके वे बच्चे तीन, जिन्हें
 माँ-बाप का मिला प्यार न था,
 जो थे जीवन के व्यंग, किन्तु
 मरने का भी अधिकार न था,
 ये लुधा - ग्रस्त बिलबिला रहे
 मानो वे मोरी के कीड़े,
 वे निपट घिनौने, महा पतित
 बौने कुरूप टेढ़े - मेढ़े !

उसका कुटुम्ब था भरा - पुरा
 'आहों से, हाहाकारों से' !
 फ्राकों से लड़ - लड़ कर प्रतिदिन,
 घुट - घुट कर अत्याचारों से,
 तैयार किया था उसने ही
 अपना छोटा - सा एक खेत !

बीबी - बच्चों से छीन, बीन
 दाना - दाना, अपने में भर,
 भूखे तड़पें या मरें, भरों
 का तो भरना है उसको घर !
 धनकी दानवता से पीड़ित
 कुछ फटा हुआ, कुछ कर्कश स्वर,
 चरमर - चरमर - चूँ - चरर - मरर
 जा रही चली भैंसागाड़ी !

है बीस कोस पर एक नगर,
उस एक नगर में एक हाट,
जिसमें मानव की दानवता
फैलाए है निज राज - पाट,
साहूकारों का भेस धरे
हैं जहाँ चोर औ' गिरहकाट ;
है अभिशापों से घिरा जहाँ
पशुता का कलुषित टाट-बाट !

उसमें चाँदी के टुकड़ों के
बदले में लुटता है अनाज,
उन चाँदी के ही टुकड़ों से
तो चलता है सब राज-काज !—

वह राज - काज, जो सधा हुआ
है उन भूखे कंकालों पर,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी
है तिल - तिल मिटनेवालों पर !

वे व्यौपारी, वे ज़मींदार,
वे हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदखोर,
पीते मनुष्य का उष्ण रक्त !

इस राज - काज के वही स्तम्भ,
उनकी पृथ्वी, उनका ही धन,
ये पेश और आराम उन्हीं के,
और उन्हींके स्वर्ग सदन !

उस बड़े नगर का राग - रंग
हूँस रहा निरन्तर पागल - सा,
उस पागलपन से ही पीड़ित
कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन !

चाँदी के टुकड़ों में विलास
चाँदी के टुकड़ों में है बल,
इन चाँदी के ही टुकड़ों में
सब धर्म-कर्म, सब चहल-पहल !
इन चाँदी के ही टुकड़ों में
है मानव का अस्तित्व विफल !

चाँदी के टुकड़ों को लेने
प्रतिदिन पिसकर, भूखों मर कर,
भैंसागाड़ी पर लदा हुआ
जा रहा चला मानव जर्जर,
है उसे चुकाना सद, कर्ण,
है उसे चुकाना अपना कर,
जितना खाली है उसका घर
उतना खाली उसका अन्तर !

नीचे जलने वाली पृथ्वी
ऊपर जलने वाला अम्बर ;
और कठिन भूखकी जलन लिए
नर बैठा है बन कर पत्थर !
पीछे है पशुता का खँडहर,
दानवता का सामने नगर,
मानव का कृश कंकाल लिए

चरमर - चरमर - चूँ - चरर - मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी !

[१५]

द्राम

- १ -

हम ठीक तरह चढ़ भी न सके

घर-घर-घर-घर चल पड़ी द्राम !

दुबले - मोटे, लम्बे - नाटे

यात्री बेंचों पर अड़े हुए,

कुछ मौन विवशता से प्रेरित

ये मनको मारे खड़े हुए,

कुछ अपनी जेब समहाले थे,

कुछ ये जेबों को तड़े हुए,

हम भी कोने में चिपक गए

सुमिरन कर मन में राम-नाम !

हम ठीक तरह चढ़ भी न सके

घर-घर-घर-घर चल पड़ी द्राम !

[७१]

अंग्रेज़, मारवाड़ी, सिंधी,
हिन्दुस्तानी, बंगाली थे,
कुछ असली ठस आसामी थे,
कुछ बने - ठने थे, जाली थे,
कुछ हँसी - खुशी में मस्त और
कुछ लड़ कर देते गाली थे !

आने वालों, जाने वालों
की मची हुई थी धूम - धाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

कुछ फूँक रहे थे पैसों को
निज हाथों में सिगरेट लिये,
कुछ सड़े मैल को भी अपने
मुंह में थे कस कर बन्द किये,
हम सोच रहे थे मृत्यु यहीं
यह भाग्य हमारा कि हम जिये,

हम उस मेले में देख रहे थे
बड़े नगर की टीम - टाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

रुक गई ट्राम भटका खाकर,
दरवाज़े पर आँखें घूनीं,
मदमाती, इठलाती युवती
नयनों ने उसकी छवि चूमी,
आई उछाह की एक लहर
हँस कर मनकी मस्ती भूमी,

थी एक अप्सरा या कि परी,
रह गए सभी दिल थाम - थाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

कंधे से कंधे भिड़े हुए
थी भरी खचाखच ट्राम कहीं !
श्रौ' नहीं दिखाई देता था
तिल रखने का भी ठौर जहाँ
हँसती - सी बाँकी चितवन पर
बेचें झाली हो गईं वहाँ,

आदर से युवती बैठ गई
कुछ बल खाकर, कुछ भूम-भाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

फिर चौराहे पर ट्राम रुकी,
अब चढ़ी एक बुढ़िया जर्जर,
थी शिथिल पिंडलियाँ काँप रहीं
थी हाँफ रही, था उसको ज्वर,
वे सभ्य और मनचले लोग
चुप बैठे थे बन कर पत्थर !

धन और रूप के भिखमंगों को
था दुखिया से कौन काम ?
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

हमने धन की दानवता से
देखा पीड़ित उन लोगों को,
वासना और तृष्णा से हत
उनकी आत्मा के रोगों को,
उनके कलुषित उद्गारों को,
उनके उन कलुषित भोगों को !

कुछ लुब्ध सोचते हुए वहाँ
हम वापस लौटे घूम - घाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

हमने सोचा—अनियन्त्रित रव
से भरा हुआ यह कलकत्ता !
कितना विशाल इसका वैभव !
कितनी महान इसकी सत्ता !
कितनी गँभीर इसकी गुरुता !—
पर एक बात है अलबत्ता ;

पशु बन कर मानव भूल गया
है मानवता का नाम - ग्राम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

राजा साहबका वायुयान

- १ -

वह उजड़ा-सा था एक गाँव !

उस कठिन, कँटीली पगडंडी
पर रहे विवश-से ये घसीट
निज निर्बल, सूखे, फटे पाँव,
निष्प्राण, लौटने वाले वे
कुछ थके हुए मरियल किसान !

धूमिल-सी सकल दिशाएँ थीं,
धूमिल था सारा आसमान !
उनसे भी धूमिल वे मानव,
मैंने पूछा था तब जिनसे,

“तुम कहाँ छोड़ आए, दिन भर

अपने खेतों में पशु बन कर

काटा था तुमने जो कि धान ?”

कितनी कुरूप वह शुष्क हँसी,
 जो उनके सूखे होठों पर
 थी भूल पड़ी, जैसे फाँसी
 पर लटका भूल रहा हो नर !
 फिर कहा एक ने कुछ बढ़ कर,
 “क्या नहीं सुना तुमने अब तक,
 हैं मोल ले रहे ज़िलेदार
 पीने दामों पर सकल धान ;
 इस तरह हो रहा है वसूल
 इस साल बँधा ड्योड़ा लगान,
 इसलिए, क्यों कि है मोल लिया
 राजा साहब ने वायुयान !”

- २ -

था ऊँचा - सा प्रासाद एक !
 वैभव पर अकड़े बैठे थे
 वे राजा - साहब कुरसी पर ;
 उनके पैरों पर फ़र्श बिछा था ;
 जिस पर बैठे थे नौकर ;
 दरबार जमा था वहाँ और
 थे अर्ज़ कर रहे मैनेजर—
 “सरकार ! हो गए हैं सरकश,
 अब नमक - हरामी करने पर
 आमदा हैं ये सब किसान !
 कहते हैं सूखे के कारण,

हम देने को तैयार नहीं
ब्योढ़ा क्या, पूरा तक लगान !”

कह उठा सरवराकार एक :—

“श्रीमान बड़े हैं दयावान,
वरना उनकी थी क्या मजाल
इस तरह लड़ाते जो ज़बान !”

तमतमा उठे राजा साहब,
बोले, “मैंने कब रोका है ?
मुझको तो रुपयों से मतलब !
दिखी जाना है मुझे अभी
है आज शामको वहाँ डिनर !”

राजा साहब ने फिर मुझ पर
डाली सगर्व हँस एक नज़र,
“देखा तुमने मिस्टर वर्मा
मैं सुबह यहाँ, फिर शाम वहाँ ;
होती जब कौंसिल की बैठक
आना होता है मुझे यहाँ—
यह अपनी बड़ी रिश्ताया जो
लेने को उसकी ख़ैर - ख़बर !

मैं राज्य - काज का एक स्तम्भ,
है यहाँ समय का बड़ा मूल्य !
इसलिए ख़रीदा है मैंने
सामने आप जो देख रहे
हैं खड़ा हुआ वह वायुयान !”

राजा साहब हैं देश - भक्त,
राजा साहब हैं बुद्धिमान,
राजा साहब के मित्र सभी
जितने भर नेता हैं महान !

फिर इसमें कुछ आश्चर्य नहीं,
वे बड़े मिनिस्टर सबे के—
उनके छोटे - छोटे लड़के
ये मचल पड़े सहसा कह कर,
“हम तो घूमेंगे आसमान !”

जैसे छोटा - सा क्लर्क एक
साहब की बड़ी खुशामद में
जाता है उनके बँगले पर,
साहब के छोटे बच्चों को
बिठलाकर अपने कंधों पर
है कभी घुमाता, बहलाता,
फिर कभी खिलौना ले देने
ले जाया करता है बज़ार !

बस उसी तरह राजा - साहब
उन बड़े मिनिस्टर के बँगले पर
ले करके अपनी मोटर
दौड़े, फिर उनके बच्चों को
ले गए घुमाने आसमान !

राजा साहब हैं देश - भक्त,
राजा साहब हैं बुद्धिमान,
राजा साहब के मित्र सभी
जितने भर नेता हैं महान !

कितनी ही संस्थाओं के हैं
वे प्रेसीडेंट, वे चेयरमैन,
सारे जग को हैं मोह रहे
राजा साहब के मधुर बैन !

राजा साहब हैं दानशील,
राजा साहब हैं दयावान !

राजा साहब के पैसों से
पलते हैं कितने ही नेता,
पलते हैं कितने कवि - लेखक,
पलते हैं कितने ही गुण्डे,
पलते हैं कितने ही महन्त,
पलते हैं कितने ही नौकर,
पलते हैं कितने ही किसान !

मैं सोच रहा—राजा साहब
करते हैं कोई काम नहीं,
फिर भी उनको जो प्रात न हो,
जग में ऐसा आराम नहीं !
इतनों को पाल रहे हैं वे,
पर वे खुद कैसे पलते हैं ?
जग रेंग रहा है पृथ्वी पर,
वे आसमान पर चलते हैं !

यह क्या ! नयनोंके आगे क्यों
वे नाच उठे मरियल किसान !
जिनकी पशुओं की सी मेहनत
बन जाया करती है लगान !

वे रोएँ, अथवा चिल्लाएँ,
उनको भूखों मरना होगा !
उनको तिल - तिल मिटना होगा !
वे निर्बल हैं, अति निर्बल हैं,
हैं राजा साहेब शक्तिवान !

नेता हैं सब एहसानमन्द ;
अफ़सर हैं उनसे दबे हुए ;
कितने प्रताप से भरा हुआ—
राजा साहब का वायुयान !

[१७]

कविजीका कितना विषद ज्ञान !

उस दिन मैं कुछ उखड़ा - सा था,
कुछ डटे हुए - से थे कविजी,
मैं सुनता था जग का रोना,
वे कहने पर थे तुले निजी !

मैं सोच रहा था मानव को
हैं दाने - दाने के लाले,
वे आसमान पर उड़ते थे
अपने वैभव में मतवाले !

फिर बातों - बातों में ही तो
कुछ ऐसा एक प्रसंग चला,
“व्यापक असीम की सुन्दरता
की छाया में है निहित कला !

[८२]

विस्तृत नभ के नीलेपन में,
पुलकित समीर के कम्पन में,
जीवन के गूढ़ रहस्य छिपे
तरुणी की बाँकी चितवन में..."

कहते - कहते कुछ भर आया
कविजी का कोमल सरस गला !

थी अभी बात पूरी न हुई,
कविजी के कमरे के बाहर
सुन पड़ा तनिक कुछ दबा हुआ
कुछ कर्कश-सा, कुछ सकरुण स्वर,
"दो दिन का भूखा हूँ मालिक !
मिल जाय अन्न बस मुट्ठी-भर !"
हम ने देखा, था खड़ा वहाँ
सहमा - सा मानव का पंजर !

रह गई सत्य की मीमांसा !
कविजी की फिर आवाज़ हुई,
"मर गया कहाँ, बाहर तो आ,
ऐ उल्लू के पट्टे रमई !"

"किसने घुस आने इसे दिया ?"
कविजी ने नौकर को डाँटा,
"इसको निकाल बाहर जल्दी
देकर कुछ थोड़ा - सा अँटा !"

मैंने फिर देखा नौकर ने
उसकी भोली में अन्न दिया,

और' बिलवे में सूखे गालों पर
दिया एक पूरा चाँटा !

रोता गालों को सहलाता
वह दीन भिखारी चला गया ;
कविजी ने भर एक साँस
फिर छोड़ा एक प्रसंग नया,

“कोमल फूलों के साथ - साथ
क्यों मिलता है कुरूप काँटा !”

तब अनायास उस दिन मैंने
देखी कविजी में एक चमक,
उनका क्रीमती सूट सुन्दर
था मधुर सेंट से रहा महक,
तर थे फुलेल से घने केश,
थी और कमर में एक लचक,
होठों पर थी मुसकान मधुर,
कविजी थे क्रमशः रहे बहक—

“ः प्रेम सत्य, है प्रेम नित्य,
मैं लिए प्रेम की हूँ माला,
चाँदनी लिए है रजत - हास,
रवि - किरणों में स्वर्णिम - विलास,
सपनों की निधि है लुटा रही
मोहिनी - भरी रजनी - बाला !

“मैं नभ में विचरण करता हूँ ;
जग में सुख - सुषमा भरता हूँ ;

मैं अपने रसमय गानों से ;
जग की पीड़ा को हरता हूँ ;
मैं पिला रहा हूँ अग - जग को
नव मधुर प्रेम - रस का प्याला !”

कवि पिला रहे थे मुझे सुधा,
पर मैं करता था गरल - पान ;
मैं सोच रहा था मर्माहत,
‘कविजी का कितना विषद ज्ञान !’

[१८]

समस्या

- १ -

कुछ आजब हेरान - सा हूँ,
मैं जिघर को देखता हूँ,

हे उधर ही एक उलभन,
एक सीमा - बद्ध जीवन,
एक अभिलाषा पुलक - सी,
भावना - मय एक स्पन्दन ;
एक असफलता वही पर
फिर सिहरता एक क्रन्दन !

विश्व प्यासा हूँस रहा है,
विश्व प्यासा रो रहा है,
और अपनी प्यास लेकर
मैं थका - सा सोचता हूँ ;

[८१]

‘किस लिए यह जन्म का क्रम !
 किस लिए अस्तित्व का भ्रम !
 किस लिए, फिर किस लिए यह
 सृष्टि के पीले अधर पर
 मृत्युका विकराल चुम्बन !’

जगत से मैं दूर कितना,
 मैं विवश - सा, मैं अकेला
 आज अपनी ही अमरता
 को यहाँ मैं ढूँढ़ता हूँ !

- २ -

विश्व का उच्छ्वास यह सब,
 विश्व का उल्लास यह सब,
 रँग - विरंगे स्वप्न वे जो
 मंदिर नयनों में रहे बिर,
 मधुर - स्मित की वह लहर जो
 अरुण अधरो पर रही तिर ;
 नयन पथराए हुए फिर,
 अधर मुरझाए हुए फिर,
 कह उठे रोकर बुझे - से
 ‘हास सत्य, विकास अस्थिर !’

बुझ रही है कालिमा बन
 रक्त - वर्ण उदास संध्या !

सामने मेरे च्छितिज की
एक धुँधली म्लान रेखा !
और मैं अपनी व्यथा में
कुछ उतरता, डूबता - सा,

‘कौन मैं ! यह सब यहाँ क्या ?’

विश्व से मैं पूछता हूँ !

‘कौन मैं ! यह सब यहाँ क्या ?’

यह प्रतिध्वनि मुन रहा हूँ !

आज अपना ज्ञान खोकर

‘कौन मैं ! यह सब यहाँ क्या ?’

मैं स्वयम ही गुन रहा हूँ !

आज अपने ज्ञान में मैं

देखता हूँ एक सीमा,

प्राण का संगीत सहसा

पड़ गया है आज धीमा ;

देखता हूँ सामने अस्तित्व

का उपहास यह सब !

सोचता हूँ, ‘क्या अचिर है

विश्व का विश्वास यह सब ?’

- ३ -

सामने मैं देखता हूँ

भिल्लमिलाता एक तारा ;

अंक में अपने लिए है

ज्योति की वह अडिग धारा !

और सहसा हिल पड़ी वह
 वायु अपने में रुकी - सी,
 गा उठी मर्मर स्वरो में
 लता वैभव में झुकी - सी,
 नीर उमड़ा लोचनों में
 बुझ गई है जलन दिल की,

भर गया प्रति रोम में मेरे
 निशा का एक स्पन्दन—
 किस पुलक का एक कम्पन ?
 क्या मिलेगा आज मुझ को
 इस विकम्पित मौन के स्वर
 में नियति का एक उत्तर ?

भाल पर ले आज की निज
 विवश विश्व अपूर्णता को
 कर रहा विश्राम है, कल
 फिर वही सम्पूर्ण बनने
 का असीमित श्रम अचंचल !

और सीमा से भरो ये
 उलझनें, ये विवशताएँ,—
 ये न होती तो निरर्थक
 सृष्टि की होती कलाएँ,
 व्यर्थ होता ज्ञान यह सब,
 व्यर्थ होती भावनाएँ !

उलझनें होतीं न यदि तो
कौन सुलझता उन्हें फिर ?
सत्य एक विकास है, यह
हास तो है क्षणिक अस्थिर !

देखता हूँ मैं विजयको
आज लेकर निज पराभव,
सोचता हूँ विश्व में मेरे
लिए है क्या असम्भव ?
भूल कर अधिकार को निज
क्यों यहाँ पर श्रेष्ठ मानव
बन रहा पशु और दानव ?

कुछ क्षण

कुछ क्षण, जीवन के कुछ छोटे - से क्षण ये,
अस्तित्व - ज्ञान के कुछ बिखरे - से क्षण ये,
जिन में कुरुपता जग की, अपनेपन की
प्रतिबिम्बित है, वे क्षण - विक्षत दर्पण ये—

लेकर निज उर में आग, नयन में पानी,
कहने बैठा हूँ इनकी आज कहानी !

यह जीवन क्या है ? केवल एक पहेली ;
यह यौवन क्या है ? विस्मृति की रँगरेली ;
यह आत्म - ज्ञान तो भ्रम है, भ्रम है, भ्रम है !
ममता रहती है निशि - दिन यहाँ अकेली !

जी भरकर मिल लो आज, ठिकाना कल का ?
युग का वियोग, संयोग एक ही पल का ?

जग क्या है ? उसको जान नहीं पाता हूँ,
मैं निज को ही पहचान नहीं पाता हूँ,
जग है तो मैं हूँ, मैं हूँ तो यह जग है,
जग मुझ में, मैं भी जग में मिल जाता हूँ !

यह एक समस्या, कठिन जिसे सुलझाना !
सुलझानेवाला हाथ बना दीवाना !

दीवानापन है पाप ? नहीं जीवन है ;
शानी का केवल ज्ञान व्यर्थ क्रन्दन है ;
ममता पर प्रति पल हँस - हँसकर धुल-धुलकर
मरनेवाले का यहाँ मृत्यु ही धन है ;

कामना कसक है और तृप्ति सूनापन ;
हँसना ही तो है मृत्यु, रुदन है जीवन !

केवल उसने जाना है सुख से सोना,
जिसने जाना है रात - रात भर रोना,
जो रो न सका वह नहीं जानता हँसना,
सुख में दुख, दुख में सुख—यह जग का टोना !

वह पा न सका है, पा न सकेगा सुख को ;
जो जान सका है नहीं अभी तक दुख को !

वैभव - सागर का बूँद - बूँद उत्पीड़न,
आहों के जग का प्रति कण पुलकित स्पन्दन—
नादान विश्व क्या समझ सकेगा इसको ?
मर मिटने में ही अरे यहाँ है जीवन !

चातक से सीखो तड़प - तड़प मर जाना ;
सीखो पतंग से निज अस्तित्व मिटाना !

मधुकर क्या जाने प्रेम ? प्रेम है तड़पन !
उन्माद - भरा है दो प्राणों का बन्धन ;
कलिका का ले सर्वस्व, नष्ट कर उसको
उड़ जाने में ही है मधुकर को पुलकन !

रस में मिल जाना ही है रस का पीना ;
जो मिट न सका वह नहीं जानता जीना !

लेना पल भर का, युग - युग भर का देना,
निज का देना ही है जीवन का लेना ;
बाज़ार उठ रही, और दूर जाना है,
जितना जी चाहे कर लो लेना - देना !

उर की लाली से मुख की कालिख धो लो ;
सर आज द्येली पर है, बोली बोलो !

यह खेल नहीं है, प्राणों का विक्रय है !
जीवन पर मिट-मिट जाओ, किस का भय है ?
यदि आज नहीं तो निश्चय जानो कल ही
ले लेगा तुम को काल बड़ा निर्दय है !

मिटनेवालों को मरने से क्या डरना ?
जिस में ममता है, उसको ही है मरना !

है एक सत्य विश्वास, चलो खुल खेलो !
निर्भय हो जग के कठिन वार को भेलो !
हैं "अविश्वास, भय"—पाप, छोड़कर इनको
यश - अपयश जो कुछ मिले उसे ही ले लो !

हैं अमर यहाँपर खुल कर करनेवाले !
पग - पग पर मरते रहते डरनेवाले !

मस्ती से हस्ती भरी हुई ग्राफिल की,
मत बात चलाना अरे अभी मंज़िल की !
चलना है—हम को बरबस जाना होगा—
फिर क्यों रह जाने पाए दिल में दिल की ?

मैं समय - सिन्धु में डुबा चुका अपनापन !
कल एक कल्पना और आज है जीवन !

साकी

बस मत कर देना अरे पिलानेवाले !

हम नहीं विमुख हो वापस जानेवाले !

अपनी असीम तृष्णा है—तेरा वैभव

अक्षय है अक्षय—अरे लुटानेवाले !

हम अलख जगाने आए तेरे दर पै !

हम मिट-मिट जाने आए तेरे दर पै !

इस रिक्त पात्र को भर दे, भर दे, भर दे !

मदहोश हमें तू कर दे, कर दे, कर दे !

हम खड़े द्वार पर हाथ पसारे कब के,

हो जायँ अमर—ऐ अमर हमें तू बर दे !

है एक बिन्दु में सिन्धु भरा जीवन का ;

परिपूरित कर दे मानस सूनेपन का !

फिर और यहाँ पर पाना ही है खोना,

हँसकर पीने में छिपा प्यास का रोना,

चलने दे, सुख के दौर अरे चलने दे !

भर जाय दुःख से उर का कोना - कोना !

अपना असीम अस्तित्व दिखा दे हम को !

बस लय हो जाना अरे सिखा दे हम को !

तेरी मदिरा का बूँद - बूँद दीवाना !
हम नहीं जानते अपना हाथ हटाना !
इस पथ का अर्थ है नहीं, न इसकी इति है,
गति है, गति है, गति है बस बढ़ते जाना !

किस ओर चले, है हुआ कहाँ से आना ?
किस ने जाना, निज को किस ने पहचाना !

माना कि कल्पना और ज्ञान है—माना !
पर अविश्वास का, भ्रम का यहीं ठिकाना !
है एक आवरण, बुना हुआ है जिस में
दिन रात और सुख-दुख का ताना-बाना !

उस ओर ? व्यर्थका यह प्रयास—जाने दे !
पाने दे, हम को मुक्ति यहीं पाने दे !

लाने दे अपनी मुक्ति हमें लाने दे !
निज आत्मघात कर जग को पछताने दे !
बहना ही तो है इष्ट, व्यर्थ फिर रोना ;
हम को हँसते - हँसते ही बह जाने दे !

पीना, फिर पीना, पीना ही है जीना !
या हाला पीना या कि हलाहल पीना !

तुझ से लेना है तुझ को सब कुछ देना !
हम देने आए—अरे कहाँ का लेना ?
हम हैं समर्थ, एहसान व्यर्थ का फिर क्यों ?
ले आज चुका ले सारा लेना - देना !

मेरा क्रम खाली करना, तेरा भरना !
अब रोक न देना फिर-फिर जीना-मरना !

कानपुर मेमोरियल वेलंपर

- १ -

तुम प्रतिहिंसा से प्रतिपालित पापोंके आख्यान !
 तुम पददलित देश की छाती पर उसके अपमान !
 अरे विजय की गौरव-स्मृति तुम, और हारके व्यंग,
 मर मिटनेवालों के उठने के तुम दोष महान !
 शक्ति की गुस्ता के उपहार

तुम्हारे वक्षस्थल में व्याप्त
 रोष की और घृणा की ज्वाल,
 रक्त के कुछ थोड़े - से बूँद
 गुलामों के पातक विकराल !
 किस नरक की कहते हो कथा
 द्वेष के विष से पूरित ब्याल !

“है कलुषित उद्गार प्रतिक्रिया !” तुम इसपर विश्वास !
 घातक के मग में बाधा पर तुम उसके निःश्वास !
 अनाचार था आदि, अन्त था भीषण अत्याचार,
 तुम पापों से घिरे पाप के छोटे - से इतिहास !

क्रान्ति ? नहीं था गुदर ; दास भी कर सकते हैं क्रान्ति ?
ग़म खाने में, आँसू पीने में है सारी शान्ति !
अत्याचारों का विरोध है शासक का अपमान,
उठनेकी कोशिश ही करना है गुलामकी भ्रान्ति !
पराजय के ऐ उपसंहार !

याद रखना इतनी-सी बात—
स्वयम ही जल जाता है ताप,
क्रिया - प्रतिक्रिया नियम है एक,
पाप का बदला ही है पाप !
उपेक्षा, निर्दयता, अभिमान—
सदा हैं विजयी के अभिशाप !

तुम्हें याद है हुआ तुम्हारा था कैसे निर्माण ?
जब प्रयाग से शासक की सेना ने किया प्रयाण,
जलते थे भोपड़े, बह रहा था सड़कों पर रक्त,
उसके ही परिणाम, प्राणका बदला होता प्राण !

अरे तुम्हारे उर में अंकित प्रतिहिंसा का भाव !
और घृणासे दूषित मंडलका यह अमिट प्रभाव !
यहाँ मौन भाषा में कितना विष उगला दिन-रात,
हरा आज भी है शासक का क्या छोटा-सा घाव !
अरे तुम निर्बल के प्रतिघात !

यहाँ मरते - मिटते हैं रोज़,
शासितों का है प्रतिपल हास,

यहाँ जीवित रहना ही इष्ट,
शान्ति में ही सब भोग - विलास,
क्षेम है अपने ही पर घृणा,
क्षेम है शासक पर विश्वास !

जो न कभी बुझ सके तुम्हारे उर में कैसी आग ?
तुम से सदा उठा करता है कर्कशता का राग !
अपनी पाप - कथा कहने पर रखना इतना याद
कि है यहाँ भी बनते रहते जलियाँवाला आग !

- ४ -

तुम पशुता की स्मृति ! हमको है अपने पर परिताप ;
तुम बदले की हृदयहीनताके निष्ठुर अभिशाप !
माना दबे हुए हैं तुम में निरपराध कंकाल ;
पर अनुचित है घृणा-प्रवर्तक दूषित पाप-प्रलाप !
पढो प्रतिहिंसा का इतिहास !

वहाँ अंधे बन जाते नेत्र,
और बहरे बन जाते कान,
मनुज बनते हैं वहाँ पिशाच,
श्रेष्ठ बन जाते नीच महान,
निरामिष बनते हिंसक जन्तु,
असम्भव भले - बुरे का ज्ञान !

कर लेना तुम याद गुदर का भीषण उपसंहार,
जब कि लटकते थे पेड़ों पर शत-शत शव प्रति बार !
अरे हमारे उर में भी है कसक और विद्रोह,
पर बीती की विस्मृति ही है मनुष्यता का सार !

अपने किये हुए पर हम तो रोते हैं दिन - रात,
पर तुम व्यंग हँसी हँसते हो यही अनोखी बात !
अरे हमारे उर के काँटे, ऐं शासक के गर्व !
कह देना यह, “दवे हुए भी करते हैं प्रतिघात !”
अरे पाषाण - हृदय पाषाण !

सभ्यता के परदे में यहाँ
तुम्हारा पशुता का व्यवहार !
तुम्हारा यह दूषित निःश्वास,
तुम्हारा यह विषाक्त संसार !
मसीहा से तो पूछो ज़रा
कि कितने ऊँचे यह उद्गार ;

तुम समर्थ की सहनशीलता असमर्थों के हास,
“श्रेष्ठ हमारे काम, अन्यके दूषित !” यह विश्वास !
यहाँ गुलामों का प्रतिपल है आहों का अम्बार,
ऐ पापों से घिरे पाप के छोटे - से इतिहास !

मानव

- १ -

जब कलिका को मादकता में
 हँस देने का बरदान मिला,
 जब सरिता की उन बेसुध - सी
 लहरों को कल - कल गान मिला,
 जब भूले - से, भरमाए - से
 भ्रमरों को रस का पान मिला,
 तब हम मस्तों को हृदय मिला
 मर मिटने का श्रम मान मिला !

पत्थर - सी इन दो आँखों को
 जलधारा का उपहार मिला,
 सूनी - सी ठंडी साँसों को
 फिर उच्छ्वासों का भार मिला,
 युग - युग की उस तनमयता को
 कल्पना मिली, संचार मिला,
 तब हम पागल - से भ्रूम उठे
 जब रोम - रोम को प्यार मिला !

भूखण्ड मापनेवाले इन
 पैरों को गति का भान मिला,
 ले लेनेवाले हाथों को
 साहस - बल का सम्मान मिला,
 नभ छूनेवाले मस्तक को
 निज गुरुता का अभिमान मिला,
 तब एक शाप - सा हाथ हमें
 सहसा सुख - दुख का ज्ञान मिला !

मरु को युग - युग की प्यास मिली
पर उसको मिला अभाव कहाँ ?
पिक को पंचम की हूक मिली
पर उसको मिला दुराव कहाँ ?
दीपक को जलना यहाँ मिला
पर उसको मिला लगाव कहाँ ?
निर्भर को पीड़ा कहाँ मिली ?
पत्थर के उर में घाव कहाँ ?

वारिद - माला से ढकने पर
रवि ने समझा अपमान कहाँ ?
नगपति के मस्तक पर चढ़कर
हिम ने पाया सम्मान कहाँ ?
मधु - ऋतु ने अपने रंगों पर
करना सीखा अभिमान कहाँ ?
कह सकता है कोई किससे
कब कसका है अज्ञान कहाँ ?

बेड़ों को कर के गुर्क किया
लहरों ने पश्चात्ताप कहाँ ?
वृक्षों ने होकर नष्ट दिया
तूफानों को अभिशाप कहाँ ?
पानी ने कब उल्लास किया
लहरों ने किया विलाप कहाँ ?
बादल ने देखा पुण्य कहाँ ?
दावा ने देखा पाप कहाँ ?

पर हम मिट्टी के पुतलों को
जब स्पन्दन का अधिकार मिला,
मस्तक पर गगन असीम मिला,
फिर तलवों पर संसार मिला !
उन तत्वों के सम्राट बने
जिनका हम को आधार मिला,
फिर हाथ असह - सा वहीं हमें
यह मानवता का भार मिला !

जल उठी अहम की ज्वाल वहीं
जब कौतूहल - सा प्राण मिला,
हम महानाश लेते आए
जब हाथों को निर्माण मिला,
बल के उन्मत्त पिशाचों को
सुख - वैभव का कल्याण मिला,
निर्बलता के कंकालों की
छाती पर फिर पाषाण मिला !

हम लेने को देवत्व बढ़े,
पशुता का हमें प्रमाद मिला ;
पर की तड़पन में, आँसू में
हमको अपना आहाद मिला ;
निज गुरुता का उन्माद मिला,
निज लघुता का अवसाद मिला ;
बस यहाँ मिटाने को हम को
मटने का आशीर्वाद मिला !

जब हम ने खोली आँख वहीं
उठने की एक पुकार हुई,
रवि - शशि, उड्डु भयसे सिहर उठे
जब जीवन की हुंकार हुई,
“तुम हो समर्थ, तुम स्वामी हो !”
जब तत्वों की मनुहार हुई—
तब क्षिति की धुँधली रेखा में
खिंच कर सीमा साकार हुई !

जब एक निमिष में युग - युग की
व्यापकता व्याप्त विलीन हुई,
जब एक दृष्टि में दश - दिशि के
बन्धन से छुवि स्वाधीन हुई,
जब एक श्वास में भावी की
स्वप्निल छाया प्राचीन हुई,
तब एक आह में मानव की
गुरुता खिंच कर श्रीहीन हुई !

जब हम सबलों की शक्ति प्रबल
निर्बल संसृति पर भार हुई,
जब विजित पद-दलित अणु-अणु से
मानव की जयजयकार हुई ;
जब जल में, थल में, अम्बर में
अपनी सत्ता स्वीकार हुई ;
तब हाय अभागे हम लोगों की
अपने ही से हार हुई !

नारी के छविमय अंगों की
छवि में मिल छविमय होने को,
पृथ्वी की छाती फाड़ लिया
हम ने चाँदी को, सोने को !
हम ने उनको सन्मान दिया
पल - भर निज गुरुता खोने को,
पर हम निज बल भी दे बैठे
अपनी लघुता पर रोने को !

असि निर्मित की थी लोहे से
अपने अभाव के भरने को,
हिंसक पशुओं के तीव्र नखों
से अपनी रक्षा करने को,
हम ने कृषि काटी थी उस दिन
निज तीव्र लुधा के हरने को,
पर हाय हमारी भूख कि हम
असि लाए खुद कट मरने को !

मथ डाले हैं सागर, अम्बर
हम ने प्रसार दिखलाने को,
हम ने विद्युत को निगल लिया
मानव की गति बन जाने को,
हम ने तेलों को दाह दिया
निशि में प्रकाश बरसाने को,
पर आज हमारे खाद्य घिरे हैं
हम को ही खा जाने को !

देखो वैभव से लदी हुई
विस्तृत विशाल बाज़ार यहाँ,
देखो मरघट पर पड़े हुए
भिखमगों के अम्बार यहाँ !
देखो मदिरा के दौरों में
नव - यौवन का संचार यहाँ,
देखो तृष्णा की ज्वाला में
जीवन को होते क्षार यहाँ !

केवल मुट्टी - भर अन्न—कहाँ
है नारी में सम्मान यहाँ ?
केवल मुट्टी - भर अन्न—कहाँ
है पुद्गलों में अभिमान यहाँ ?
केवल मुट्टी - भर अन्न—कहाँ
है भले - बुरे का ज्ञान यहाँ ?
केवल मुट्टी - भर अन्न—यही
है वस अपना ईमान यहाँ !

अपने बोके से दबे हुए
मानव को कहाँ विराम यहाँ ?
सुख - दुख की सँकरी सीमा में
अस्तित्व बना नाकाम यहाँ !
बनने की इच्छा का हमने
देखा मिटना परिणाम यहाँ—
'अभिलाषाओं की सुबह यहाँ,
असफलताओं की शाम यहाँ !'

अपनी निर्मित सीमाओं में
हम को कितना विश्वास अरे !
यह किस अशान्ति का रुदन यहाँ ?
किस पागलपन का हास अरे ?
किस सूनेपनमें मिल जाते
मानव के विफल प्रयास अरे ?
क्यों आज शक्ति की प्यास प्रबल
बन गई रक्त की प्यास अरे ?

अपनेपन में लय होकर भी
अपने से कितनी दूर अरे !
हम आज भिखारी बने हुए
निज गुरुता से भरपूर अरे !
अपनी ही असफलताओं के
बन्धन से हम मजबूर अरे !
अपनी दीवारों से दब कर
हम हो जाते हैं चूर अरे !

पथ - भ्रष्ट हमें कर रही यहाँ
अपनी अनियन्त्रित चाल अरे !
डस रही व्याल बनकर हम को
यह अपनी ही जयमाल अरे !
हम प्रतिपल बुनते रहते हैं
अपने विनाश का जाल अरे !
बन गए काल के हम स्वामी
हैं अब अपने ही काल अरे !

अम्बर को नत करनेवाला
अपना अभिमान भुका न सका !
सागर को पी जानेवाला
आँखों की प्यास मिटा न सका !
व्यापक असीम रचनेवाला
निज सीमा स्वयम बुझा न सका !
अपनी भूलों की दुनिया में
सुख-दुख का ज्ञान भुला न सका !

अपनी आहों में संसृति के
क्रन्दन का स्वर तू भर न सका !
अपने सुख की प्रतिछाया में
जग को तू सुखमय कर न सका !
यह है कैसा अभिशाप अरे
क्षमता रखकर तू तर न सका !
तू जान न पाया जी न सका
जो उसके पहले मर न सका ।

है प्रेम तत्व इस जीवन का,
यह तत्व न अब तक जान सका !
तू दया - त्याग का मूल्य अरे
अब तक न यहाँ अनुमान सका !
तू अपने ही अधिकारों को
अब तक न हाथ पहचान सका !
तू अपनी ही मानवता को
अब तक हे मानव पा न सका !

[२३]

विस्मृतिके फूल

- १ -

उस दिन सरिता खेल रही थी नक्षत्रों के साथ,
और निशा के आलिंगन में पुलकित थे निशिनाथ,
वैभव की मस्ती में हँसती थी चाँदी की रात ;
भ्रूम रही थी पगली कुमुदिनी करके ऊँचा माथ !

- २ -

डोल रही थी कुसुमित शाखा लेकर अपना भार,
डोल रहा था धीरे - धीरे सुरभित मलय बयार,
मधुवन कहता था मधुश्रुतु से अपने सुख की बात ;
मन्त्रमुग्ध - सा मौन पड़ा था सपनों का संसार !

- ३ -

मेरे इन अपलक नयनों में छाया था उन्माद,
जाग उठी थी सूने उर में फिर सोई - सी याद,
जब मेरे जीवन में गति थी और निकट आकाश ;
नाच रही थी सुखद कल्पना कितने युग के बाद !

- ४ -

पास खड़ी थी मेरी मस्ती, पास खड़ा था प्यार,
पास खड़ा था भोलेपन का निश्छल मधुर दुलार,
लौट पड़ी थी फिर आकांक्षा, अपनेपन का ज्ञान ;
खोई - सी गुरुता सन्मुख थी, भूला - सा उद्गार !

[१०८]

- ५ -

मैंने तब सरिता से पूछा, “कैसी झिलमिल चाल ?”
हँसकर वह कह उठी, “अरे है यह तो चक्र विशाल !

आदि नहीं है मेरी गति का और नहीं है अन्त ;
अविकल चलती ही रहती हूँ पगली - सी प्रति काल !”

- ६ -

मैंने तब तारों से पूछा, “कहाँ तुम्हारा बास ?”
बोल उठे वे, “हम रहते हैं सदा निशा के पास !

हो जाते हैं लोप उषा में, कहाँ ? नहीं यह ज्ञात ;
यहाँ मृत्यु है नित्य, नित्य ही जीवन का परिहास !”

- ७ -

“सजनि कहाँ दिन में रहती हो !” जब पूछी यह बात,
प्रियतम और निरखकर बोली तब काली - सी रात,

“अन्धकार है ज्ञान, भ्रान्ति की रेखा सकल प्रकाश ;
जिसको तुम सब दिन कहते हो, वह माया की घात !”

- ८ -

“जीते मरते ही रहते हो, क्या जीवन, क्या काल ?”
अर्ध - चन्द्र से मैंने पूछा उस प्रदेश का हाल !

“जीवन क्या है क्षण-क्षण धुलकर शान्त मृत्यु की गोद ;
और मृत्यु है फिर अशान्ति का नवजीवन विकराल !”

- ९ -

वह उस दिन की रात देवि थी किस रहस्य की रात ?
वह उस दिन की बात देवि थी कौन सत्य की बात ?

जीवन की धुँधली - सी रेखा, जग का धुँधला चित्र
देख सका हूँ पल - भर को, बस यही मुझे है ज्ञात !

हँसकर आया भोला बचपन, हँसता हुआ प्रकाश,
हँसकर आया इस जीवन के इन्द्रजाल का पाश,
हँसती थी सुखमयी कल्पना, हँसता था संसार ;
और हँस रहा था भविष्य में बैठा हुआ विनाश !

- ११ -

हँसकर आया पागल यौवन, हँसकर आया प्यार,
हँसकर आए रंग - रूप भर कोटि - कोटि उद्गार,
विस्मृति में मस्ती हँसती थी, मधु में था उल्लास ;
और हँस रहा मंदिर फेन में था निर्जीव झुमार !

- १२ -

हँसकर आया वृद्धापन का लो गाम्भीर्य प्रशान्त,
हँसकर आया भले - बुरे का सार - युक्त एकान्त,
हँसता था अनुभव का सागर, मधुर मनोहर शान्ति ;
और हँस रहा था अनन्त का अन्धकार उद्भ्रान्त !

- १३ -

जीवन क्या है ? उथल-पुथल का एक अनूप विलास,
और मृत्यु है सूनेपन का कोमल - सा उल्लास,
यहाँ आँसुओं में रस - धारा, आहों में संगीत ;
और रुदन भी है करुणा का एक अनोखा हास !

- १४ -

धीरे - धीरे मैं बढ़ता हूँ, पूछोगी, "किस ओर ?"
मेरा पथ वह अन्धकार है जिस का ओर न छोर !
रुकने की इच्छा करते ही उठ जाते हैं पैर
उसी अन्त की ओर, जहाँ भरता अनन्त हिल्लोर !"

- १५ -

'अरे कहीं से मैं आया हूँ' पूछ रही हो आह !
कहीं चित्र भी पा सकता है चित्रकार की थाह ?

जान सका हूँ इन सदियों में बस इतनी-सी बात ;
'एक कल्पना की ल्याया थी, उसके उर में चाह !'

- १६ -

यह मेरा अस्तित्व, इसे तुम ढूँढ रही हो आज,
यह सपने की सेज अनोखी, यह विस्मृति का राज,
छुईं मुईं - सा यह जीवन है एक घात - प्रतिघात ;
मेरे गौरव - युक्त भाल पर है काँटों का ताज !

- १७ -

मिट न सकेगी, देवि, अमिट है मेरे उर की आस,
इसमें अंकित हैं जीवन के शत - शत विफल प्रयास,
मेरे युगों - युगों के पल का केवल इतना मूल्य ;
निःश्वासों में छिपा हुआ है चिर - संचित विश्वास !

- १८ -

बुझ न सकेगी, देवि, प्रबल है इस जीवन की प्यास,
इस सूखे - से मरु प्रदेश में मृग - तृष्णा का वास,
यहाँ पिपासा ही जीवन है, और तृप्ति है मृत्यु ;
अविकल उत्पीड़न विकास है, और शान्ति है हास !

- १९ -

रोनेवाले से न पूछना उसके दुख का ज्ञान,
हँसनेवाले से न पूछना तुम सुख की पहिचान,
रोना - हँसना अमिट प्रकृति की क्षणिक भावना और ;
परिवर्तन है नियम, दुख - सुख हैं उसके परिधान !

[१११]

- २० -

वह विस्मृति का पात्र, भ्रान्ति की मदिरा उसमें डाल,
अभिमन्त्रित कर इन्द्रजाल के मंत्रों के तत्काल,
फेंक दिया है किस ने माया के प्रांगण में और ;
हुआ किस लिए इस नाटक का है निर्माण विशाल ?

- २१ -

आनेवाले ले आते हैं अपना - अपना प्यार,
जानेवाले दे जाते हैं जग का हाहाकार,
यह विचित्र - सा क्रय-विक्रय है, यह विचित्र-सी हाट ;
इस माया के प्राङ्गण को ही कहते हैं संसार !

- २२ -

पंचतत्व से बनता, होता उस में अन्तर्धान,
परिवर्तन के अमिट नियम का यह प्रतिबिम्ब महान,
जिससे बना उसीसे होकर पृथक् उसीसे भिन्न ;
यह विस्मृति का पात्र यही है इस तन का उपमान !

- २३ -

बेसुध विस्मृति के मण्डल में हलचल का निर्माण,
प्रेरित करते रहते जिसको अस्ति - नास्ति के बाण,
जहाँ रंग है, जहाँ व्यंग है, तम है जहाँ प्रकाश ;
यही भ्रान्ति की मदिरा है मेरा छोटा - सा प्राण !

- २४ -

बस इतना ही, इधर - उधर है धुँधला - सा अशात,
जहाँ कल्पना है, संशय है, जहाँ घात - प्रतिघात,
कहो कौन वह शक्ति रच लिया है जिस ने यह खेल ?
देवि, न पूछो तुम अन्धों से उस प्रकाश की बात !

- २५ -

मेरी आँखों में मदिरा है, मेरे उर में राम,
मेरे मस्ती के जीवन में नहीं पाप का काम,
दीवानों से देवि, न पूछो तुम ममत्व का मूल्य;
अपनापन है यहाँ भ्रान्ति का एक दूसरा नाम !

- २६ -

प्रेमासत्र के मतवाले में भले - बुरे का ज्ञान ?
अपनी हस्ती से बेसुध में सुख - दुख की पहिचान ?
यहाँ विवर्तन के परदे में संसृति है विश्वास ;
इस जग का यह ज्ञान कि जग है जग से ही अनजान !

- २७ -

मनोवृत्ति से प्रेरित होता रहता जग दिन - रात,
मनोवृत्ति ही है जीवन की हलचल का आघात,
मनोवृत्ति है सत्य और मिथ्या आचार - विचार ;
देवि, हृदय की भाषा में है यहाँ सार की बात !

- २८ -

हृदयवान यदि प्रेम - भाव से भर - भर लावे आप,
पीती जाना अरी गरल के प्यालों को चुपचाप,
हृदयहीन यदि सुधा पिलावे कर देना इनकार ;
देवि, हृदय पर मर मिटने में नहीं पाप - परिताप !

- २९ -

आज तुम्हारी कृपाकोर से होकर देवि, सनाथ,
चित्र बनाने मैं बैठा था किस आशा के साथ !
रुकी नहीं तूलिका, हो गये सातों रंग समाप्त ;
किन्तु अन्त में शेष रह गया कोरा कागज हाथ !

- ३० -

वहाँ नहीं था रूप कि जिसका क्षण - भर का उल्लास,
वहाँ नहीं था रंग कि जिसका सीमित है उच्छ्वास,
 आँखों के आगे था व्यापक - सा निःसीम प्रकाश ;
कोरे कागज पर पाओगी उसका देवि, विकास !

- ३१ -

नयनों में थी सुधा, अधर पर हिम - जल का परिधान,
और कपोलों पर लज्जा की भीनी - सी मुसकान,
 श्वासों में विश्वास भरा था, उर में प्रेम अथाह ;
बस इतना ही सा मुझ को था देवि, तुम्हारा ज्ञान !

- ३२ -

इस कागज को फेंक न देना, रखना अपने पास,
यहाँ तुम्हारी छवि अंकित है, मेरी पागल प्यास,
 तुम रेखा से मुक्त, मुक्त मेरा मादक अनुराग ;
और मुक्त है एक दूसरे पर अविकल विश्वास !

- ३३ -

एक कसौटी थी आँखों की, रूपराशि है प्यार,
एक कसौटी थी अनुभव की, रूपराशि है चार,
 भाँति - भाँति की यहाँ कसौटी निर्णय जहाँ अनेक ;
किन्तु सत्य की एक कसौटी, रूपराशि है द्वार !

- ३४ -

रूपराशि के परदे में है रूपराशि का सार,
जहाँ त्याग है, जहाँ दया है और जहाँ है प्यार,
 वहीं सत्य है, सुन्दरता है और वहीं शिव - रूप ;
दो जाते हैं एक जहाँ दो हृदयों के संसार !

- ३५ -

सुननेवाले मौन यहाँ पर कहनेवाले मौन,
और प्रेम की मौन व्यथा को सहनेवाले मौन,
देवि, हृदय की मौन कहानी, उर की भाषा मौन ;
मादकता के उस प्रवाह में बहनेवाले मौन !

- ३६ -

मर - मिटने में दुख मिलता है, अरे यही है भूल,
यहाँ त्याग में ही तो सुख है और कसक अनुकूल,
मरनेवाले ने ही जाना है जीवन का मूल्य ;
उसी हृदय में फूल मिलेगा जहाँ मिलेगा शूल !

- ३७ -

अगर फूल में मादकता है, काँटे में है आह,
एक सत्य है, और दूसरा उसी सत्य की चाह,
नयनों का पानी लिख देता है गिरकर प्रति बार ;
दुख के झरनों से ही बनता है सुख - सिन्धु अथाह !

- ३८ -

दुख के व्यथित कर्णों पर निर्मित है सुख का संसार,
है वह अपनी विजय, जिसे जग कह देता है हार,
— प्रातः की ही प्रथम रश्मि में है संध्या की ज्वाल ;
और निशा के अन्धकार में है दिन का अभिसार !

- ३९ -

यह सुख - दुख की एक समस्या जिसको जग नादान,
उलझ - उलझकर सुलभाने में ढूँढ़ रहा है ज्ञान,
छिपा हुआ है इसमें ही जीवन का परम रहस्य ;
कौन सका है जान सत्य को, कौन सकेगा जान ?

जिसकी आँखों में करुणा है, मुख पर है मुसकान,
जिसके उर में कोमलता है, प्राणों में बलिदान,
धर्म—प्रेम, विश्वास—दया है और साधना—त्याग ;
वही सका है जान सत्य को, वही सकेगा जान !

ये ममत्व के भाव देवि री ! यह ममत्व की चाह,
कसक रहे हैं वित्त उर में काँटे बनकर आह,
शिलाखण्ड - सा बँधा हुआ हूँ मैं अपने में और
मुक्त तथा स्वच्छन्द समय का कितना तीव्र प्रवाह !

इस प्रवाह की सीमा कैसी ! यह है सीमाहीन,
कितने युग, कितने कल्पान्तर होते यहाँ विलीन,
देवि, तुम्हारा पल अनादि है, निश्चय यही अनन्त ;
अगर हो सको तुम ममता के बन्धन से स्वाधीन !

है अखण्ड यह समय देवि, है जीवन वहीं अखण्ड,
वह मैं हूँ जो करता रहता इस अखण्ड के खण्ड,
मैंने ही निर्माण किये हैं यहाँ घड़ी - पल - वर्ष ;
देश लोक मैं बना चुका हूँ तोड़ - तोड़ ब्रह्माण्ड !

देवि, आज जीवन है, कल है अन्धकार की भूल,
जिसके उर में सिसक रही हैं चिन्ताएँ निर्मूल,
है अनन्त जल - राशि यहाँपर, मैं हूँ उसकी बूँद ;
अरे व्यर्थ है व्यर्थ ढूँढ़ना इधर - उधर के कूल !

- ४५ -

बीता कल था 'आज' और होगा भावी कल 'आज',
देवि, 'आज' पर ही तो स्थित है इस जगती का साज,
 'कल' सब कुछ था शून्य और होगा 'कल' सब कुछ शून्य ;
उसी शून्य पर बना हुआ है जन्म - मरण का राज !

- ४६ -

उर की एक उमंग हमारी जगती का उल्लास,
एक आह है देवि, वहीं पर जगतो का निःश्वास,
 मुझ से ही तो विश्व बना है, विश्व और मैं एक ;
मेरे सुख - दुख में है जग के सुख - दुख का आभास !

- ४७ -

मधु की ही थी हँसी कि जिससे कली हँस पड़ी और,
कोकिल के ही प्रणय - गान से बौर उठे थे बौर,
 पतझड़ रोया हिम के आँसू, लता हुई श्री - हीन ;
हे अनन्त का जीवन कण के जीवन का सिरमौर !

- ४८ -

मैं अपना किस भाँति ? देवि, मैं निखिल विश्वका अंग,
पृथक भाग का भाव पूर्णता को करता है भंग,
 इस दुख-दैन्य और दुविधा का 'मैं' कारण हूँ हाय ;
'अपनापन' ही है अखण्ड जीवन का कुत्सित व्यंग !

- ४९ -

बन-बनकर फिर मिट-मिट जाना, यह क्रम नियम अबाध,
मिटने की ही साध यहाँ है फिर बनने की साध,
 बूँद - बूँद से सागर बनता, कण - कण से ब्रह्माण्ड ;
यहाँ कौन - सा आराधक है और कौन आराध !

[११७]

- ५० -

जप - तप - पूजा व्यर्थ, देविरी ! व्यर्थ स्वर्ग की चाह,
और व्यर्थ है मुक्ति - साधना का अदम्य उत्साह,
जग के आँसू में मिल जाना, यही एक है मुक्ति ;
स्वर्ग-लाभ है बन-बन जाना उत्पीड़ित की 'आह' !

- ५१ -

उस दिन मंदिर में गूँजा था भक्तगणों का गान,
“देव ! मुक्ति मिल सके जगत से, ऐसा दो बरदान,
भव-सागर से हमें उबारो, निज में कर लो लीन ;
तोड़ सकें माया के बन्धन, हमें सिखा दो ज्ञान !”

- ५२ -

एक विचित्र बात थी उस दिन, देव - मूर्ति तत्काल
हिल - सी पड़ी, चढ़ गईं भौंहेँ और तन गया भाल,
उठी एक हुंकार, “कहाँ की माया, कैसा ज्ञान !
तुम से निर्मित जग, जग से निर्मित ब्रह्माण्ड विशाल !

- ५३ -

“यह ब्रह्माण्ड असीम, अहम है सीमा का अभिशाप,
आत्म-ज्ञान है अहंकार - मय जीवन का सन्ताप,
जीवन तो है कर्म, कर्म है जग में होना लीन ;
जिसे मुक्ति कहते हो, वह है अकर्मण्यता, पाप !

- ५४ -

“पृथक-पृथक व्यक्तित्व यहाँ हैं, पृथक - पृथक हैं काम,
विश्व व्यक्तियों का है, जीवन है कर्मों का नाम,
भेद-भाव का नाम मिटाकर मिले व्यक्ति में व्यक्ति ;
और कर्म में डूब जाय सब दुविधा का संग्राम !

- ५५ -

“तुम लेने - देनेवाले हो और विश्व बाज़ार,
यहाँ घृणा का मूल्य घृणा है और प्यार का प्यार;
निज को देकर ही कर सकते हो जीवन का मोल ;
निज पर ही तो लदा हुआ है असफलता का भार !

- ५६ -

“जग - जीवन के महायज्ञ की बलिवेदी है त्याग,
जहाँ चढ़ाना होगा तुम को अपना - अपना भाग,
एक यन्त्र ब्रह्माण्ड और तुम सब हो उसके अंश ;
जीवन पर मिट - मिट जाना है जीवन का अनुराग !

- ५७ -

“हँस - हँसकर फिर रो - रो पड़ना, कैसा हाहाकार !
अपनेपन का भार कठिन है, पीड़ित है संसार,
नहीं जानता वह जीवन की सुन्दरता का रूप ;
दया करो यह जग निर्बल है, दया करो प्रति बार !”

- ५८ -

कौतूहल के कोमल पल ये हैं कितने सुकुमार,
उत्सुकता का अक्षय जीवन है सौन्दर्य अपार,
एक बूँद आँसू में कितना मधु, कितना उल्लास !
देवि, प्यास में छिपा तृप्ति का सीमाहीन प्रसार !

- ५९ -

हिम है उज्वल - श्वेत, रंगों से रँगा हुआ ऋतुराज,
देवि, सुनहला ग्रीष्म, हरा है पावस का सुख - साज,
शरद - निशा का नीला अम्बर, ज्योत्स्ना का शृंगार ;
और शिशिर की धूमिल छाया में दिनकर की लाज !

- ६० -

राशि - राशि में सकल सृष्टि का यह अनुपम शृंगार,
यह मधु-श्री, यह सुख, यह सुषमा, यह सौन्दर्य अपार,
इसमें मिलकर ही हम उसको पा सकते हैं देवि !
आओ, हो लें मुक्त छोड़कर निज सुख - दुख का भार !

- ६१ -

आओ, मिल लें हम-तुम पल-भर, पल-भर कर लें प्यार,
यह अक्षय विस्मृति का पल ही बने सकल संसार,
एक दूसरे पर मिट - मिटकर हम बन जावें एक ;
देवि, आसुओं की धारा में मिलती तृप्ति अपार !

विस्मृतिके फूल

[२]

- १ -

हँस - हँसकर मैं भूल चुका हूँ आशा और निराशा को,
रो-रोकर मैं भूल चुका हूँ सुख - दुख की परिभाषा को,
भूल चुका हूँ सब कुछ, केवल इतना मुझको याद रहा—
बनते देखा, मिटते देखा अपनी ही अभिलाषा को !

- २ -

नहीं आज तक देख सका हूँ निज धुँधले अरमानों को,
नहीं आज तक सुन पाया हूँ उरके अस्फुट गानों को,
अरे, देखना-सुनना उसका, जिसका हो अस्तित्व यहाँ
प्रेम मिटा देता है पल में अपने ही दीवानों को !

- ३ -

मसल चुका हूँ पैरों नीचे कितने कोमल फूलों को,
और वक्ष में चुभा चुका हूँ कितने निर्दय शूलों को,
ज्ञान और अज्ञान हमारे सपनों की तसवीरें हैं
जीवन तो कहते हैं जग में जीवन की ही भूलों को !

[१२१]

- ४ -

जलने देना अरे हृदय की जलती हुई निशानी को,
और जलाते रहना उसमें तिल-तिल निज अभिमानी को,
प्यास बुझानी हो यदि तुमको सिसक-सिसककर मौन रहो;
प्यासी दुनिया माँग रही है उर के खारे पानी को !

- ५ -

देखें किस में कितना साहस, किस में कितना पानी है ?
भिखमंगों की इस दुनिया में कौन अनोखा दानी है ?
आज पराजय खेल रही है शानी जग की आड़ों से !
अरे विजय पर हँसनेवाला, कौन यहाँ अज्ञानी है ?

- ६ -

देखें किस में कितनी तृष्णा, किसमें कितनी ज्वाला है ?
निर्जावों के इस समूह में जीवित कौन निराला है ?
आज हलाहल छलक रहा है पीड़ित जग की आँखोंमें !
सुधा समझकर कौन यहाँ पर उसको पीनेवाला है ?

- ७ -

देखें किसमें अमिट साध है, किसमें अक्षत आशा है ?
मिट-मिटकर फिर बननेवाली किसमें नव अभिलाषा है ?
आज मौन-निस्पन्द पड़ा है विश्व मृत्यु की तन्द्रा में ;
जीवन का सन्देश सुनानेवाली किसकी भाषा है ?

- ८ -

देखें किसके उर में गति है, श्वासों में उच्छ्वास यहाँ ?
किसके वैभव के अन्तर में है अक्षय विश्वास यहाँ ?
आज विकृत सीमित है जगके जीवन का उन्मुक्त प्रवाह,
इस असीम में लहराता है किसका पूर्ण विकास यहाँ ?

- ९ -

किस गति से प्रेरित हो अविक्ल बहता है सरिताका जल ?
किस इच्छा से पागल होकर लहरें उठतीं मचल - मचल ?

‘कल - कल’ ध्वनि में छलक रहा है किस अभिलाषा का संगीत ?
‘लय होने को प्रेम ढूँढ़ता है, असीम का वक्षस्थल !’

- १० -

किस सौरभ से पीड़ित होकर सिहर - सिहर उठता मधुवन ?
किन सपनों के पुलक-भार से भुक-भुक पड़ता मलय - पवन ?

किस मादकता से अकुलाकर कलिका देती उर को खोल ?
‘ढूँढ़ रहा अपने विकास को अपने ही में है जीवन !’

- ११ -

उमड़-धुमड़कर चढ़ते फिर क्यों बरस-बरस पड़ते जलधर ?
जल-जलकर फिर बुझ-बुझ जाती क्यों विद्युतकी ज्वाल प्रखर ?

भू से टकराकर मिट जाता क्यों अम्बर का रुद्र निनाद ?
‘ढूँढ़ रहा निर्माय नाश में अपनी लघुता का अन्तर !’

- १२ -

किस तृष्णा से आकुल होकर ‘पिहु, पिहु’ रटता है चातक ?
किस प्रिय का आह्वान कर रही ‘कुहु-कुहु’ स्वरमें कुहू अथक ?

कलरव के उन सप्त स्वरों में है किससे मिलने की साध ?
‘ढूँढ़ रहा अस्तित्व पूर्णता के मपने की एक भलक !’

- १३ -

रोक सका है कौन यहाँ पर अविक्ल बहनेवाले को ?
सुनने का अवकाश नहीं है अपनी कहनेवाले को !

किस सुख-दुख की बात चलाती यहाँ ज्ञान की कायरता—
सुख - दुख की परवाह कहाँ है सुख - दुख सहनेवाले को ।

[१२३]

- १४ -

आँख मूँदकर बढ़ते जाना, एक नियम दीवानों का,
सिर न झुकाना लड़ते जाना, एक नियम मरदानों का,
श्वासों में गति, उर में गति है, यहाँ प्रगति ही एक नियम—
गति बनना, गति में मिल जाना, एक नियम गतिवानों का !

- १५ -

एक पैर आकाश यहाँ है, एक पैर पाताल यहाँ,
एक पैर है जन्म यहाँ पर, एक पैर है काल यहाँ,
एक पैर दिन का प्रकाश है, एक पैर रजनी का तम—
दो पैरों में ही सीमित है इस असीम का जाल यहाँ !

- १६ -

लौट सका है कौन यहाँ पर ? बस आगे बढ़ते जाना —
जो कुछ है वह सब अपना है, कौन यहाँ पर बेगाना ?
यहाँ खिलौना बनकर सुख - दुख स्वागत करने आए हैं !
ऐ जीवन के विकट खिलाड़ी, आज खेल लो मनमाना !

- १७ -

हँसकर खेलो बाधाओं से, ममता से रोकर खेलो,
सुध - बुध की इस कायरता से तुम बेसुध होकर खेलो,
अरे खेलना ही जीवन है, यहाँ हिचक का काम कहाँ ?
स्वयम खिलौना बनो, खेल में अपने को खोकर खेलो !

- १८ -

खेलो पुलकित मृदुल हास से, विचलित आहों से खेलो,
जग की असफलता से खेलो, अपनी चाहों से खेलो,
पीड़ित से तुम त्याग, निबल से यहाँ दया से खेलो तुम ;
कहें तुम्हें गुमराह प्रेम से उन गुमराहों से खेलो !

[१२४]

- १९ -

तुम अयाह हो इस संसृति की अरे थाह पानेवाले !

तुम प्रवाह हो जग की लहरों में बहते जानेवाले !

तुम असीम हो, किस सीमा की लघुता में हो बँधे हुए ?

तुम मनुष्य हो इतना समझो, मनुष्य कहलानेवाले !

- २० -

यहाँ प्राण है एक प्रेरणा, एक साधना जीवन है,

एक कल्पना सुख का वैभव है, दुख का सूनापन है,

एक भावना मिटना - बनना—ऐ विभूतियों के स्वामी !

बढ़े चलो तुम—किसका भय है, बोलो किसका बन्धन है ?

- २१ -

शिशुता हाथ पसारे आई जीवनके आलिंगन को,

और व्यग्र हो गया बुढ़ापा एक मृत्यु के चुम्बन को,

आदि - अन्त के परे प्राण के चिर - यौवन की गोदी में ;

ऐ अपने को खोनेवालो पाओगे अपनेपन को !

- २२ -

अपने उर का अविरत स्पन्दन, बस इतना अपना धन है,

अविकल गिरना, उठना, बढ़ना, इतना अपना जीवन है,

एक - एक कर अभिलाषाएँ सृजतीं एक असीम यहाँ—

एक साँस में निलय सृष्टि का ; बस इतना अपनापन है !

- २३ -

किस भविष्य का विभ्रम है, जो तुम इतने भयभीत हुए ?

किस अतीत के स्वर से कर्कश ये प्राणों के गीत हुए ?

मिटनेवाले 'आज' अमिट है, इसमें मिलकर अमिट बनो ;

मिट - मिटकर ही जो भविष्य थे, वे सब यहाँ अतीत हुए ?

[१२५]

- २४ -

कोयल बोली पुलक 'आज' में, मधुवन मधु से झूम रहा,
कलिका हँस दी विकल 'आज' में मलय सुरभि को चूम रहा,

कब कलिका को कल की चिन्ता, कब कोयल को कल की याद ?
हाय अभागे मानव तू ही 'कल' के भ्रम में घूम रहा !

- २५ -

यहाँ कली हँसने को आई, कोयल आई गाने को,
सरिता की धारा आई है अविकल बहते जाने को,

मैं सब के गुण लेकर आया, मेरा है विस्तार असीम—
इस उलझन में पड़ा हुआ हूँ उलझन के सुलझाने को !

- २६ -

अपने में लेकर आई है संसृति यहाँ रहस्य अनन्त,
चिर - सूनेपन से युत पतझड़, चिर - वैभव से भरा बसन्त,

इस सूनेपन में भी मधु है, इस वैभव में दाहक ताप ;
मैं अनन्त बनकर आया हूँ पाने को संसृति का अन्त !

- २७ -

कितने युग - मन्वन्तर बीते—इसका मुझको ज्ञान नहीं,
अपनी सीमा की व्यापकता का मुझको अनुमान नहीं,

अनिल अनल जल शून्य वायु से लड़ना और विजय पाना—
आगे बढ़ते जाना—हटने से मुझको पहचान नहीं !

विशाल भारत बुक-डिपो द्वारा प्रकाशित तथा प्रचारित पुस्तकें

पिस्तौलका निशाना (रूसी कहानियाँ)	३)
आजका रूस	३)
त्रिलोचन कविराज	१॥)
प्रेम संगीत	१॥)
गोधन (सच्चित्र सजिल्द)	४)
शिकार (श्रीराम शर्मा)	२॥)
प्राणोंका सौदा ”	३)
बोलती प्रतिमा ”	१॥)
भाँसीकी रानी लक्ष्मीबाई	॥)
स्त्रियों बच्चियोंका व्यापार	२)
संयम शिक्षा! (गांधीजी)	६)
सरदार बल्लभ भाई पटेल	॥६)
मनसा (उपन्यास)	१)
चिताकी चिनगारियाँ	१)

कुछ प्रसिद्ध कवियोंकी पुस्तकें

पल्लव (सुमित्रानन्दनपंत)	१॥)
बीणा ”	१)
ग्रंथि ”	॥)
गुंजन ”	१॥)
युगान्त ”	॥)
युगबाणी ”	१)
ग्राम्या ”	१)
पल्लविनी ”	३)
कामायनी (प्रसाद)	३)
श्रांसू ”	॥)

लहर (प्रसाद)	१)
महाराणाका महत्व ,,	१५)
प्रेम पथिक ,,	१)
यामा (महादेवी वर्मा)	१)
मुकुल (सुभद्रा कुमारी चौहान)	१)
सीकर (तारा पाडे)	१)
शुकपिक ,,	॥१)
अनामिका (निराला)	२१)
गीतिका ,,	१॥)
परिमल ,,	१॥)
तुलसीदास ,,	१)
प्रेम संगीत (भगवतीचरण वर्मा)	१॥)
मधुकण ,,	१॥)
मानव ,,	१॥)
प्रवासीके गीत (नरेन्द्र शर्मा)	१॥)
प्रभात फेरी ,,	१)
कुंकुम (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')	॥१)
सिद्धार्थ (अनूप शर्मा)	३)
सुमनांजलि	२)
कल्लोलिनी (हितैषी)	२)
मधुकलश (बच्चन)	१)
मधुशाला ,,	१)
स्वैर्यामकी मधुशाला (बच्चन)	॥१)
तेरा हार ,,	१)
मधुबाला ,	१)
निशा निमंत्रण ,,	१॥)
एकान्त संगीत ,,	१॥)
बिजनवती (पं० इलाचन्द जोशी)	२)

